



महावीर जयन्ती 2588

जैनविद्या

आचार्य कुन्दकुन्द विशेषांक

सुंज्ञानाकहतांनोगयो नावार्धसौजु आठहीकर्मकेप्रदेहीउत्रयंतदुधीवे सोकनिक्रिया।
 काफलधकी स्वक्राक्तिसंसूचितवस्तुतवे व्यगियाकृतयंसमयस्यत्राष्टेः स्वरूपगुणस्यनके
 विदक्ति कर्तव्यमेवामृतबंधसूरिः प्रतीकानां अमृतबंधसूरिः किंचितकर्तव्यंनश्निपव्यमृ
 नबंधसूरिः कहतांयुधकत्रीकोनामधे निदिकोकिंचितकहतांनोटकसमयसारधकीकर्तव्य
 कहतांकरियो नश्निपकहतांनहीवे नावार्धसौजु नाटकसमयसारयुधकीटीकाकोकर्तव्य
 अमृतबंधनामआचार्य्येतावे तथापिमहांनहे संसारतद्विवरकवे निदिनद्वियुधकरिया।
 कोअनिमाननहीकरेवे किंसावेअमृतबंधसूरि स्वरूपगुणस्यकहतांछादशांगसुपसूत्रअ
 नादिनिधनवे कोईकोकीयोनहीवे इमोजानिआपुकोयुधकोकर्तव्यनहीमान्योवे किदि
 इमोवे इमोकोवे जिदिनेसमयस्यइयव्याख्यात्राष्टेः कृता समयस्यकहतांशुद्धजीवस्वरू
 पकी इयंव्याख्याकहतांनोटकसमयसारनामयुधरूपवषानु त्रष्टेः कृताकहतांवचनामधे
 येत्राष्टराशि नोटकरिकरीवे किंसावेत्राष्टराशि स्वक्राक्तिसंसूचितवस्तुतवेः स्वक्राक्ति
 त्रष्टमांवे अर्धसूत्रवाकीशक्ति निदिकरि संसूचितकहतांधकाशमानरूवावे वस्तुकैद
 तांइतीवादिप्रदाधीन्याहकांतवेः कहतांकिंसावेइयगुणपर्याय रूप उत्यादव्ययधाय

सुपअधवादेयउपादेयसुपवस्तुकोनिदलोउादकरिइसावेत्राष्टराशि
 यादत्रांनुस्केदृष्टे गदत्रांनिधनेमया यदिशुद्धमशुद्धया ममदाघानदीयतां

जैनविद्या संस्थान
 (INSTITUTE OF JAINOLOGY)

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी
 राजस्थान

मुखपृष्ठ-चित्रपरिचय

मुखपृष्ठ पर मुद्रित चित्र क्षेत्रान्तर्गत पाण्डुलिपिविभाग में उपलब्ध आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित समयसार ग्रन्थ की आचार्य अमृतचन्द्र कृत संस्कृत 'आत्मख्याति' टीका (ढूंढारी भाषा में टिप्पणसहित) की पाण्डुलिपि सं. 3942, पत्र संख्या 171, आकार 28 × 13 सें. मी., लिपि सं. 1773, लिपिस्थान चाटसू के अन्तिम दो पृष्ठों का है जिसका पाठ निम्न प्रकार है—

भुंजाना कहतां भोगयौ । भावार्थ इसौ जु ।
 आठ ही कर्म के उदै जीउ अत्यन्त दुखी छै ।
 सो फुनि क्रिया का फल थकी ॥ छः ॥
 स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वै—
 व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः ।
 स्वरूपगुप्तस्य न किंचिदस्ति
 कर्त्तव्यमेवामृतचन्द्रसूरिः ॥ 32 ॥

अर्थ : ॥ अमृतचन्द्रसूरेः किंचित् कर्त्तव्यं न अस्ति एव अमृतचन्द्रसूरेः कहतां ग्रंथकर्त्ता कौ नाम छै ॥ तिहि कौ किंचित् कहतां नाटक समयसारथकी कर्त्तव्यं कहतां करिवौ न अस्ति कहतां नही छै । भावार्थ इसौ जु । नाटक समयसार ग्रंथ की टीका कौ कर्त्ता अमृतचन्द्र नाम आचार्य्य छता छै । तथापि महान छै बड़ा छै । संसार तहि विरक्त छै । तिहि तहि ग्रंथ करिवा कौ अभिमान नही करै छै । किसान छै अमृतचन्द्रसूरि । स्वरूपगुप्तस्य कहतां द्वादशांगरूप सूत्र अनादिनिधन छै । कोई कौ कीयौ नही छै । इसौ जानि आपु कौ ग्रंथ कौ कर्त्तापनौ नही मान्यौ छै । जिहि इसौ छै । इसौ क्यौ छै । जिहि नै समयस्य इयं व्याख्या शब्दैः कृता । समयस्य कहतां शुद्ध जीव स्वरूप की । इयं व्याख्या कहतां नाटक समयसार नाम ग्रंथ रूप बखानु । शब्दैः कृता कहतां वचनात्मक छै ये शब्दरासि । त्यांह करि करी छै । किस्यौ छै शब्दरासि । स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वैः । स्वशक्ति कहतां शब्द मांहे छै । अर्थ सूचिवा की शक्ति । तिहि करि संसूचित कहतां प्रकाशमान हूवा छै । वस्तु कहतां जीवादि पदार्थ त्यांह कां तत्त्वैः कहतां किस्यौ क्यौ द्रव्यगुणपर्यायरूप । उत्पादव्ययध्रौव्य-रूप अथवा हेयउपादेयरूप वस्तु कौ निहचौ ज्यांह करि इस्या छै शब्दरासि ॥ छः ॥ इति समयसार नाटक सटीपनका समाप्तम् ॥ संवत् 1773 वर्षे ॥ मगिसिर वदि 7 दिने ॥ वृहस्पतिवारे ॥ श्री चाटसू मध्ये लिखतम् ॥ यादृशं पुस्तकं दृष्टं । तादृशं लिखतं मया । यदि शुद्धमशुद्धं वा । मम दोषो न दीयतां ॥ 1 ॥ कल्याणमस्तुः ॥ छः ॥ श्रीरस्तुः ॥ शुभं भवतु ॥ लेखकपाठकयोः ॥ श्रीः ॥ छः ॥

जैनविद्या

जैनविद्या संस्थान श्रीमहावीरजी द्वारा प्रकाशित अर्द्धवार्षिक

शोध - पत्रिका

अप्रैल 1990

सम्पादक

ज्ञानचन्द्र खिन्दूका

डॉ. गोपीचन्द पाटनी

सहायक सम्पादक

पं. भंवरलाल पोल्याका

सुश्री प्रीति जैन

परामर्शदाता

डॉ. कमलचन्द सोगणी

प्रबन्ध-सम्पादक

श्री कपूरचंद पाटनी

मन्त्री

प्रबन्धकारिणी कमेटी

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र, श्रीमहावीरजी

प्रकाशक

जैनविद्या संस्थान

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी

मुद्रक

फ्रैण्ट्स प्रिन्टर्स एण्ड स्टेशनर्स

जोहरी बाजार, जयपुर-3

वार्षिक मूल्य

तीस रुपया मात्र

विषय - सूची

क्र. सं.	विषय	लेखक	पृ. सं.
	प्रास्ताविक प्रकाशकीय		
	कुन्दकुन्द है तुम्हें प्रणाम	पं. अनूपचन्द न्यायतीर्थ	
1.	मूलसंघाग्रणी मुनीश्वर कुन्दकुन्दाचार्य	डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन	1
2.	दार्शनिक व्याख्याता कुन्दकुन्दाचार्य विचार और विवेचन	डॉ. आदित्य प्रचण्डिया 'दीप्ति'	7
3.	आचार्य कुन्दकुन्द की देन	डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री	15
4.	कुन्दकुन्द-साहित्य का साहित्यिक मूल्यांकन	डॉ. राजाराम जैन	23
5.	सम्यक्त्व	आचार्य कुन्दकुन्द	30
6.	आचार्य कुन्दकुन्द की ग्रन्थत्रयी के टीकाकार	डॉ. शुद्धात्मप्रभा	31
7.	कुन्दकुन्द का वस्तुस्वातन्त्र्य-सिद्धान्त	राजकुमार छाबड़ा	35
8.	ण भिज्जइ, ण लिप्पइ	आचार्य कुन्दकुन्द	42
9.	आचार्य कुन्दकुन्द निश्चय और व्यवहार	डॉ. कमलचन्द सोगारणी	43
10.	सम्यग्ज्ञान	आचार्य कुन्दकुन्द	50
11.	कुन्दकुन्द-साहित्य में समकालीन सांस्कृतिक जीवन की भांकियां	डॉ. (श्रीमती) विद्यावती जैन	51
12.	समभाव	आचार्य कुन्दकुन्द	58
13.	कुन्दकुन्द साहित्य में सर्वज्ञ का स्वरूप	पण्डित रतनचन्द भारिल्ल	59
14.	सामायिक	आचार्य कुन्दकुन्द	66
15.	आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा प्रतिपादित अमृतकुम्भ और विषकुम्भ	पं. जगन्मोहनलाल शास्त्री	67

क्र. सं.	विषय	लेखक	पृ. सं.
16.	हिंसा	आचार्य कुन्दकुन्द	72
17.	आचार्य कुन्दकुन्द और यथार्थ-असदभूत-व्यवहारनय	डॉ. रतनचन्द्र जैन	73
18.	कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थों में सम्यग्चारित्र की अवधारणा	डॉ. राजकुमारी जैन	79
19.	वंदणीया गुणवादी	आचार्य कुन्दकुन्द	90
20.	आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि में 'समय'	डॉ. (श्रीमती) पुष्पलता जैन	91
21.	परद्रव्य	आचार्य कुन्दकुन्द	96
22.	आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि में भक्ति तत्त्व	डॉ. प्रेमसागर जैन	97
23.	समयसार का दार्शनिक पृष्ठ	डॉ. दरबारीलाल कोठिया	103
24.	स्वद्रव्य	आचार्य कुन्दकुन्द	112
25.	समयसार की रचना में आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि	पं. बंशीधर व्याकरणाचार्य	113
26.	समयसार में निश्चय व्यवहार-विषयक चर्चा-समाधान	नाथूराम डोंगरीय	119
27.	परद्ववादो दुग्ध	आचार्य कुन्दकुन्द	128
28.	समयसार का 'समय'	डॉ. महेन्द्रसागर प्रचण्डिया	129
29.	प्रवचनसार में शुद्धोपयोग की महिमा एवं उस सम्बन्धी गाथाओं का व्याकरणिक विश्लेषण	डॉ. कमलचन्द सोगाणी	133
30.	सो भायइ अप्पयं शुद्धम्	आचार्य कुन्दकुन्द	144
31.	प्रवचनसार का सार	डॉ. प्रेमचन्द रांबका	145
32.	आचार्य कुन्दकुन्द एवं बोधपाहुड	पं. अनूपचन्द न्यायतीर्थ	151
33.	अष्टपाहुड का भाषात्मक अध्ययन	डॉ. उदयचन्द जैन	155

प्रास्ताविक

भगवान् महावीर के प्रमुख गणघर इन्द्रभूति ने उनकी दिव्य वाग्गंगा का अवधारण कर उसे द्वादश अंगों में गुम्फित कर सूत्रबद्ध किया था। यही ज्ञान श्रवण एवं स्मरण परम्परा से एक आचार्य से दूसरे आचार्य को प्राप्त होता रहा। समय की गति के साथ आचार्यों की स्मरणशक्ति क्षीण होती गयी और इसका बहुत सा अंश विस्मरण के गर्त में लुप्त हो गया तो, जो कुछ अंश आचार्यों, उपाध्यायों और साधुओं को स्मृतिशेष था उसे लिपिबद्ध कर उसे स्थायित्व प्रदान करने का प्रयत्न चालू हुआ। जिन महान् आचार्यों ने यह प्रयत्न किया, जिनके कारण भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट सर्वसौख्यप्रदायी धर्म का एक अंश आज भी आध्यात्मिक और भौतिक उन्नति का मार्गप्रशस्त करने हेतु हमें सुलभ है उनमें आचार्य श्री कुन्दकुन्द का नाम सर्वोपरि है।

धर्म का हमारे जीवन में बड़ा महत्त्व है। वह हमें जीवनी शक्ति प्रदान करता है, हमारी चेतना को संस्कारित करता है। यद्यपि वह हमें दिखाई नहीं देता किन्तु प्रतिक्षण हम उसका अनुभव कर सकते हैं। वह कहीं बाहर नहीं, हमारे ही भीतर है। उसे बाहर खोजने का प्रयत्न बालू में से तेल निकालने के श्रम के समान व्यर्थ है। ऐसा करना कमरे में खोई सुई को बाहर ढूँढने की भांति श्रम और शक्ति का अपव्यय है। आज तक हम यही करते आ रहे हैं। परिणाम हमारे सामने है।

धर्म और धार्मिक अन्योन्याश्रित हैं। आचार्य समन्तभद्र के अनुसार 'न धर्मो धार्मिकैर्विना'। धर्मात्माओं के बिना धर्म नहीं रहता। इसी प्रकार धर्म के बिना कोई धर्मात्मा नहीं कहला सकता। आचार्य कुन्दकुन्द ने धर्म के सम्बन्ध में कहा है—

चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समो त्ति रिणविट्ठो ।

मोहबल्लोह विहीणो, परिणामो अप्पणो हु समो ॥

—प्र. सा. 2.7

—निश्चय से चारित्र ही धर्म है, साम्य को ही धर्म कहा गया है, मोह और क्षोभ (राग-द्वेष) से रहित आत्मा का परिणाम ही साम्य है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने इसकी टीका में कहा है—

—'मिथ्यात्व रागादिसंसारण रूपे भावसंसारे पतन्तः प्राणिनामुद्धृत्य निर्विकार-शुद्धचेतन्ये धरतीति धर्मः।' मिथ्यात्व (दर्शन-मोहनीय), रागादि (चारित्र मोहनीय), संसारणरूप, भावसंसार में गिरते हुए प्राणियों का उद्धार करके उनका निर्विकार शुद्ध-चेतन-स्वभाव में स्थापन कर देता है वह धर्म है।

आचार्य ने इसके आगे की गाथा में और भी स्पष्ट करते हुए कहा है—‘धम्म-परिणदो आदा धम्मो’ धर्मपरिणत आत्मा ही धर्म है ।

दर्शनपाहुड की गाथा 2 में ‘दंसणमूलो धम्मो’ सम्यग्दर्शन को धर्म का मूल बताते हुए उसकी महिमा का इस प्रकार वर्णन किया है—

‘दंसणभट्टा, दंसणभट्टस्स एत्थि सिग्वाणं’ ॥ 3 ॥

जिनका सम्यग्दर्शन भ्रष्ट है वे भ्रष्ट हैं, उन्हें निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती ।

चारित्रपाहुड में भी उनका कथन है—

सम्मत्तचरणभट्टा, संजम चरणं चरंति जे वि णरा ।

अण्णाराणाराणुमूढा, तहवि ण पावंति सिग्वाणं ॥ 10 ॥
 सम्भवते वे भ्रष्ट होते हुए भी

—जो संयमाचरण का पालन करते हैं वे अज्ञानी ज्ञान-मूढ़ हैं, उनको भी निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती ।

वह संयमाचरण दो प्रकार का है—1. निरागार और 2. सागार । निरागार संयम का पालन गृह-त्यागी साधु और सागार संयम का आचरण गृहस्थ करते हैं ।

लोक में साधुओं की बड़ी महिमा है । वे सच्चे गुरु कहलाते हैं । कबीर ने तो गुरु को गोविंद से भी बड़ा बताया है । आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव में कहा है—

‘गुरुपिता गुरुमाता गुरुदेवो गुरुगतिः ।

शिवं रूढे गुरुश्रता, गुरो रूढे न कश्चन ॥

क्रियासार में भी इसी का अनुकरण करते हुए प्रतिपादित किया है—

गुरुमातापिता स्वामी वांघवः सुहृदः शिवः ॥

गुरु को जहाज से उपमित किया जाता है । जहाज का सबसे बड़ा वैशिष्ट्य है उसकी तरण-तारणी शक्ति । जो जहाज स्वयं तैर नहीं सकता वह स्वयं तो डूबता ही है साथ में यात्रियों को भी ले डूबता है । आवश्यक है कि एतदर्थं जहाज का न केवल आकार यथानुरूप हो अपितु उसमें छिद्र आदि किसी भी प्रकार की गड़बड़ी न हो । वास्तव में बाह्य आकार का कोई महत्त्व नहीं है, असली महत्त्व तो है उसकी तरनतारणी शक्ति का । यही बात साधु के सम्बन्ध में भी शत-प्रतिशत लागू होती है । इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्द ने साधु का यथाजातरूप आवश्यक बताकर भी तब तक उसे कार्यकारी नहीं माना जब तक कि तदनुरूप भाव न हों ।

उन्होंने अपने भावपाहुड में स्पष्ट घोषणा की—निश्चय से साधु की प्रथम पहचान उसका भाव ही है—भावोहि पढमालगं (2), यदि कोटि-कोटि वर्षों तक भी तपस्या की जाय तो भी भावरहित को सिद्धि प्राप्त नहीं होती—भाव-रहिओ ण सिउभइ जइ वि तवं चरइ कोडि-कोडिओ (4), भावरहित वेष से तुम्हें क्या लाभ—किं ते लिंगेण भाव-

रहिएण (19), बंधु-बंधवों को छोड़ देने मात्र से ही मुक्ति नहीं मिलती, मुक्ति तो भावों से ही होती है—भावविमुक्तो मुक्तो ए य मुक्तो बंधवाई मित्तेण (43) और जो भावों से रहित है, वह नग्न हो तो भी दुःख पाता है, संसार-सागर में भ्रमण करता है तथा उसे चिरकाल तक बोधि की प्राप्ति नहीं होती—एग्गो पावइ दुवखं, एग्गो संसारसायरे भमइ । एग्गो ण लहइ बोहिं, जिणभावण वज्जियं सुइरं (68) ।

मुमुक्षुओं को ऐसे साधुओं से सावधान करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द ने दर्शनपाहुड में चेतावनी दी है—

असंजदं ण वंदे, वच्छविहीणो वि तो ण वंदिज्ज ॥ 25 ॥

—असंयम की वंदना नहीं करनी चाहिये, वह वस्त्ररहित हो तो भी वंदनायोग्य नहीं है ।

जे दंसणेसु भट्टा, णाणे भट्टा चरितभट्टा यं ।

एवे भट्टविभट्टा, सेसं पि जणं विणासंति ॥ 8 ॥

—जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है, ज्ञान और चारित्र से भ्रष्ट है वे भ्रष्टों में भी भ्रष्ट हैं, शेष लोगों का भी नाश करते हैं ।

यदि सम्यग्दर्शन से हीन साधु सम्यग्दृष्टियों से अपने चरण छुआता है अथवा जो सत्य से परिचित होते हुए भी किसी कारणवश उनके पांव पड़ते हैं तो साध्य और साधक दोनों ही डूबते हैं—

जे दंसणेसु मट्ठा, पाए पाडंति दंसणघराणं ।

ते होति लल्लभूआ, बोही पुण दुल्लहा तेसिं ॥ 12 ॥

जे वि पडंति च तेसिं, जाणंता लज्जगारवमयेण

तेसिं पि एत्थि बोहिं, पावं अणुमोयमोएणाणां ॥ 13 ॥ दर्शन पा.

आचार्य कुन्दकुन्द ने आध्यात्मिकता से ओतप्रोत ग्रंथों की ही रचना नहीं की अपितु लोकव्यवहार की सरलता, सफलता और पवित्रता के लिए भी बहुत सुन्दर लिखा है ।

—आचार्य कुन्दकुन्द अपर नाम तिरुवल्लुवर ने अपने तमिल ग्रन्थ तिरुकुरल में बताया है—

—धर्म का समस्त सार यही है कि अपना अन्तःकरण पवित्र रखो, अन्य सब बातें शब्दाडम्बरमात्र हैं । (4.4)

—मनुष्य के नम्रता और प्रियसंभाषण ये ही दो आभूषण हैं अन्य नहीं । (10.5)

—प्रत्युपकार की इच्छा के बिना किया गया उपकार सागर से भी अधिक बड़ा होता है । (11.3)

—बुद्धिमानों का गौरव इसी में है कि वे तराजू के समान शत्रु और मित्र में समभाव रखकर निष्पक्षतापूर्वक न्याय करें । (12.2)

—आग से जला घाव समय पाकर अच्छा हो जाता है पर वचन का घाव सदा ही हरा बना रहता है । (13.9)

—सदाचार सुख-सम्पत्ति का मूल है । (14.8)

—ईर्ष्यालु कभी फलता-फूलता नहीं । (17.10)

—भूठ और चुगली द्वारा जीवन व्यतीत करने से मृत्यु भली । (19.3)

—महापुरुष उपकार का प्रति-उपकार नहीं चाहते । (22.1)

—जीवों को मारना क्रूरता है किन्तु उनका मांस खाना उससे भी बड़ा पाप है । (26.4)

वास्तव में आचार्य कुन्दकुन्द सच्चे अर्थों में ज्ञान, ध्यान और तप में लीन रहने-वाले साधु थे, इसलिये वे इतने विपुल साहित्य का निर्माण करने में समर्थ हो सके । जो कुछ उन्होंने लिखा स्वपरहितार्थ लिखा, शास्ता और शासित दोनों के कल्याणार्थ लिखा । वे दीपक की भांति स्वपरप्रकाशी थे ।

उन द्वारा प्रदत्त ज्ञान आज भी संसारांधकार में भटकते हुए प्राणी का अपने प्रखर प्रकाश से मार्गदर्शन कर रहा है ।

जो कुछ भी उन्होंने लिखा बिना किसी भय अथवा लालच के लिखा और यथार्थ लिखा, मायाचार से रहित होकर लिखा इसीलिए 'आप्तस्तु यथार्थवक्ता' एवं 'यो यत्रावञ्चकः स तत्राप्तः' आप्त के ये दोनों लक्षण उनमें घटित होते हैं । इसीलिए भगवान् महावीर और गौतम गणधर के पश्चात् आज भी वे जन-जन की श्रद्धा और भक्ति के पात्र हैं ।

उनके देय से उपकृत समाज ने उनकी द्विसहस्राब्दि मनाने का जो निश्चय किया वह उचित ही था । जैनविद्या का यह 10-11वां संयुक्तांक संस्थान की ओर से उस विराट् आयोजन में छोटा सा योगदान है जिसमें जाने-माने विद्वानों और मनीषियों द्वारा उनके विशाल व्यक्तित्व तथा कृतित्व पर यत्किञ्चित् प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है । आशा है पाठकों को यह आत्मरंजक होगा ।

इस अंक के लिए जिन विद्वान्-लेखकों की रचनाएं प्राप्त हुई हैं हम उनके आभारी हैं, भविष्य में भी इसी प्रकार के सहयोग की अपेक्षा है । इसके सम्पादन-प्रकाशन में प्रदत्त सहयोग के लिए डॉ. कमलचन्द सोगाणी, सेवानिवृत्त प्रोफेसर, दर्शन विभाग, सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर तथा श्री भंवरलाल पोल्याका, सुश्री प्रीति जैन आदि सहयोगी कार्यकर्ता धन्यवादाहर्ह हैं ।

मुद्रण के लिए फ्रैण्ड्स प्रिन्टर्स परिवार के प्रति धन्यवाद ज्ञापित है ।

ज्ञानचन्द्र खिन्नुका

संयोजक

जैनविद्या संस्थान समिति

प्रकाशकीय

जन-जन की श्रद्धा का केन्द्र, लोकांक्षाओं की पूर्ति के लिए विश्रुत, अनेक चामत्कारिक घटनाओं से सम्बद्ध, वर्तमान कालीन चतुर्विंशति तीर्थंकर परम्परा में अन्तिम भगवान् महावीर के नाम से विख्यात राजस्थान के सवाई माधोपुर जिले के हिण्डीन उपखण्ड में स्थित दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी सम्पूर्ण भारत में शायद एकमात्र ऐसा तीर्थ है जहाँ से कई लोकहितकारी प्रवृत्तियाँ संचालित होती हैं, जो सच्चे अर्थों में तीर्थ है। भगवान् महावीर की वाणी के प्रचार-प्रसार द्वारा जीवों के अज्ञानांधकार को सम्यक्ज्ञान के आलोक से नष्ट कर उन्हें उन्मार्ग से हटा सन्मार्ग की ओर उन्मुख करना, उन्हें उस मार्ग पर चलने की प्रेरणा देना उन प्रवृत्तियों में से एक है।

इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु क्षेत्र की प्रबन्ध समिति ने 'जैनविद्या संस्थान' नामक संस्था की कुछ वर्षों पूर्व स्थापना की थी। विपुल जैन साहित्य की विभिन्न धाराओं/विधाओं यथा—काव्य, इतिहास, पुराण, चरित, धर्म, दर्शन, ज्योतिष, गणित, विज्ञान आदि की विशेषताओं से जिज्ञासु विद्वान् परिचित हो सकें एतदर्थ संस्थान ने एक षाण्मासिक शोध-पत्रिका 'जैनविद्या' का प्रकाशन प्रारम्भ किया था जिसके नौ अंक पाठकों तक पहुँच चुके हैं। दसवाँ-ग्यारहवाँ अंक 'कुन्दकुन्द विशेषांक' के रूप में प्रकाशित करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता है।

'आद्य कुन्दकुन्द' जिनका वास्तविक नाम 'पद्मनंदि प्रथम' था, मूलसंघीय दिगम्बर जैन आचार्य परम्परा में शीर्ष बिन्दु पर अवस्थित हैं।

जब भारत में वैदिक याग-यज्ञों का बोलबाला था, हिंसा अपनी चरम सीमा पार कर चुकी थी, नारी अपना वर्चस्व खो चुकी थी, अन्याय और अत्याचार की ज्वाला से सारा विश्व संतप्त और संतप्त हो रहा था, ऐसे समय में भगवान् महावीर ने आद्य तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के अहिंसा और समता पर आधृत धर्म को पुनर्जीवन प्रदान किया, स्थान-स्थान पर घूमकर अपने दिव्य उपदेशों से सुख और शान्ति का मार्ग प्रशस्त किया। उनके प्रमुख शिष्य इन्द्रभूति गौतम गणधर ने उनकी उस वाणी को द्वादश अंगों में विभक्त कर शृंखलाबद्ध किया और मौखिक परम्परा से उस द्वादशांग श्रुत के अध्यात्म एवं चारित्र्य से सम्बन्धित एक अंग को लिपिबद्ध कर स्थायित्व प्रदान करनेवालों में वे सर्वप्रथम आचार्य थे। एतत्सम्बन्धी जितना भी साहित्य आज दिगम्बर परम्परा में प्राप्त है उसका मूलाधार उन द्वारा रचित, संकलित ज्ञान भण्डार ही है। यदि वे ऐसा नहीं करते तो भगवान् महावीर के स्व-पर हितकारी अध्यात्म एवं चारित्र्य सम्बन्धी उपदेश आज हम तक नहीं पहुँचते, वे विस्मृति के गर्त में समय के प्रवाह के साथ लुप्त हो जाते। इस दृष्टि से आचार्य कुन्दकुन्द का महत्त्व और समाज पर उनका उपकार स्पष्ट है। वे हमारे लिए

मंगलस्वरूप हैं अतः उनके प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापन करने हेतु भगवान् महावीर और गौतम गणधर के पश्चात् उनका नाम-स्मरण उचित ही है ।

उनके 2000 वर्ष पूर्ण होने के उपलक्ष्य में उन्हें अपने श्रद्धासुमन अर्पित करने एवं जैन धर्म और संस्कृति के प्रचार-प्रसार तथा संरक्षण हेतु नवीन उत्साह से सन्नद्ध होने हेतु सम्पूर्ण विश्व में द्विसहस्राब्दि महोत्सव बड़े उत्साह और उमंग से मनाया गया । प्रस्तुत प्रकाशन उसी सन्दर्भ में योगदान का एक छोटा सा प्रयत्न है । आशा है पाठकों को यह रुचिकर, आत्मोत्थान तथा चारित्र-निर्माण हेतु प्रेरणास्पद होगा ।

यह अंक विभिन्न बहुश्रुत विद्वानों की लेखिनी से अनुस्यूत रचनाओं द्वारा संजोया-संवारा गया है । एतदर्थं हम उनके ऋणी हैं । भविष्य में भी हमें उनसे ऐसा ही सहयोग प्राप्त होता रहेगा, ऐसा हमारा विश्वास है ।

इस अंक के सम्पादन, प्रकाशन, मुद्रण में जिन-जिन का भी परामर्श/सहयोग रहा है वे सब धन्यवादाहर्ह हैं ।

कपूरचन्द पाटनी

प्रबन्ध सम्पादक

कुन्दकुन्द है तुम्हें प्रणाम

—पं. अनूपचन्द जैन

मंगलभय महावीर जिनेश्वर, गौतम गणधर मंगलधाम ।
जैनधर्म में कुन्दकुन्द का, मंगलकारी है शुभ नाम ॥

सभी मंगलों में यह पहिला, मंगल है गुणकारी एक ।
कार्य सहज निर्विघ्न रूप से, हो जाते सम्पन्न अनेक ॥

कुन्दकुन्द आचार्य यतीश्वर, परम दिगम्बर मुनि निर्ग्रन्थ ।
मूलसंघ नायक संस्थापक, आम्नाय गए गच्छ सुपथ ॥

भद्रबाहु के शिष्य योग्यतम, प्रथम शती आचार्य महान् ।
पांच नाम से पूजित जग में, संत शिरोमणि विद्याधान् ॥

कुन्दकुन्द गुरु पद्मनंदि और, गृद्धपिच्छि मुनि परम उदार ।
वक्रप्रोव तरुण तन शोभित, एलाचार्य नाम सुखकार ॥

परम तपस्वी और यशस्वी, दृढ़ श्रद्धानी शांतस्वरूप ।
ज्ञान-ध्यान-संयम-श्रुतव्यसनी, गुण-गौरव-गरिमा के रूप ॥

जिन में अद्भुत शक्ति अलौकिक, गये देह युत स्वयं विदेह ।
सीमंधर जिन समवसरण में, दर्शन पाये निःसंभेह ॥

ज्ञानज्योति कर प्राप्त वहां से, फैलाया आगम का ज्ञान ।
रचे ग्रंथ अध्यात्म विषय के, करने को स्व-पर कल्याण ॥

समयसार पंचास्तिकाय अरु, नियमसार और प्रवचनसार ।
और अष्टपाहुड की रचना, प्राकृत में ही रची अपार ॥

लिये प्रमुखता अनेकांत और, रत्नत्रय की विविध प्रकार ।
कर्मा का सिद्धांत निरूपण, और जैनदर्शन का सार ॥

आत्मज्ञान ही सर्वोपरि है, सब कृतियों का ये ही सार ।
आतम अनुभव कर लेना ही, भव-सागर से होना पार ॥

कुन्दकुन्द की रचनाओं का, घर घर में हम करें प्रचार ।
सच्ची शांति मिले सुख बैभव, फैले होय राष्ट्र उदार ॥

दो हजार वर्षों का उनका, समारोह का वर्ष महान् ।
बड़े हर्ष उल्लासपूर्वक, सभी मनार्थ रखकर ध्यान ॥

जिनशासन के अप्रदूत हे ! आत्मज्ञान के पूंज-ललाम ।
शांति सुधा बरसा दो 'अनुपम', कुन्दकुन्द है तुम्हें प्रणाम ॥

जैनविद्या
(शोध - पत्रिका)

सूचनाएं

1. पत्रिका सामान्यतः वर्ष में दो बार प्रकाशित होगी ।
2. पत्रिका में शोध-खोज, अध्ययन-अनुसंधान सम्बन्धी मौलिक अप्रकाशित रचनाओं को ही स्थान मिलेगा ।
3. रचनाएं जिस रूप में प्राप्त हों उन्हें प्रायः उसी रूप में प्रकाशित किया जायगा । स्वभावतः तथ्यों की प्रामाणिकता आदि का उत्तरदायित्व रचनाकार का होगा ।
4. यह आवश्यक नहीं कि प्रकाशक, सम्पादक लेखकों के अभिमत से सहमत हों ।
5. रचनाएं कागज के एक ओर कम से कम 3 सें. मी. का हाशिया छोड़कर सुवाच्य अक्षरों में लिखी अथवा टाइप की हुई होनी चाहिए ।
6. रचनाएं भेजने एवं अन्य सब प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए पता—

सम्पादक
जैनविद्या
दिगम्बर जैन नसियां भट्टारकजी
सवाई रामसिंह रोड
जयपुर-302 004

मूलसंघाग्रणी मुनीश्वर कुन्दकुन्दाचार्य

—डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन

□

अन्तिम तीर्थंकर निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र वर्द्धमान महावीर (599-527 ई. पू.) की अनुवर्ती आचार्य-परम्परा में तथा जैन-साहित्य के इतिहास में योगिराज कुन्दकुन्दाचार्य का नाम सर्वाधिक प्रतिष्ठित है।¹ वे न केवल पुस्तक-साहित्य प्रणयन के लिए चलाये गये सरस्वती आन्दोलन या सारस्वत अभियान के सर्वाधिक उत्साही नेता थे वरन् उस युग के सर्वाधिक महान् ग्रन्थकार भी थे। यहाँ तक कि जैन परम्परा में उनका नामस्मरण आज भी मंगलमय माना जाता है।² वे भगवान् महावीर की मौलिक परम्परा का प्रतिनिधित्व करनेवाले मूलसंघ के अग्रणी नेता थे³ और कुन्दकुन्दान्वय के रूप में उनकी अपनी आम्नाय उनकी उत्तरवर्ती शाखा-प्रशाखाओं में विस्तृत होती हुई दूर-दूर तक प्रसारित हुई। अपनी गुरु-परम्परा को अन्ततः कुन्दकुन्दाचार्य के साथ जोड़कर दिगम्बर आम्नाय के जैन मुनि गौरवान्वित होते रहे। कम से कम तीन प्रमुख प्राचीन संघ कुन्दकुन्दान्वय से ही सम्बद्ध रहे।⁴ वीर निर्वाण की प्रारम्भिक छः शताब्दियों में जिनवाणी का संरक्षण करनेवाले श्रुतवार आचार्यों के अन्तिम वर्ग में प्रायः सर्वप्रमुख, चतुरानुयोगान्तर्गत द्रव्या-नुयोग को पुस्तकारूढ करनेवाले सर्वप्रथम, जैन अध्यात्म-सरिता की साक्षात् गंगोत्री भगवान् कुन्दकुन्द की ख्याति रही है कि उन्होंने सम्पूर्ण भरतक्षेत्र में जिनवाणी की आपेक्षिक श्रेष्ठता प्रतिष्ठापित कर दी थी और उसे लोकप्रिय बना दिया था।⁵ अनेक उत्तरवर्ती ग्रन्थकार उनके ऋणी हुए और विशेषकर परवर्ती टीकाकारों के लिए तो कुन्दकुन्द-साहित्य उद्धरणों का कामधेनु सिद्ध हुआ। कुन्दकुन्द के अधिकांश कथन सम्प्रदायातीत हैं और विशेषरूप से उनके ग्रन्थराज समयसार का स्वाध्याय तो दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्थानकवासी आदि प्रायः सभी जैन सम्प्रदायों में तथा अनेक जैनेतरों द्वारा भी श्रद्धापूर्वक होता आया है।

उत्तरवर्ती साहित्य एवं शिलालेखों में इन आचार्य के लिए कई नाम या उपनाम प्रयुक्त हुए मिलते हैं। शिलालेखों में सामान्यतया कोण्डकुन्द नाम प्राप्त होता है—उसी का संस्कृत रूप कुन्दकुन्द है। देवसेन और जयसेन ने उनके लिए पद्मनन्दि नाम का प्रयोग किया है।⁶ 14वीं शती ई. तथा उपरान्त के कई अभिलेखों तथा ग्रन्थकारों ने वक्रग्रीव, गुद्धपिच्छ और एलाचार्य उनके उपनाम सूचित किये हैं।⁷ अन्य उपनाम महामति⁸ और वट्टकेर⁹ सुभाये गये हैं। आचार्य स्वयं अपने विषय में प्रायः कोई सूचना प्रदान नहीं करते, केवल उनकी बारस-अणुवेक्खा के अन्त में कर्त्तारूप में 'कुन्दकुन्द' नाम प्राप्त हैं और बोधपाहुड के अन्त में वह स्वयं को भद्रबाहु का शिष्य रहा सूचित करते हैं।¹⁰

आचार्य के जीवनचरित्र-विषयक कुछ लोकानुश्रुतियां भी प्रचलित हैं किन्तु वे मिथक या काल्पनिक प्रतीत होती हैं, अतएव विश्वसनीय नहीं हैं।¹¹ इसी प्रकार, चारण-ऋद्धि या आकाशगामिनी विद्या, विदेहगमन आदि कई चामत्कारिक शक्तियां भी उनमें रही बतायी जाती हैं किन्तु उनके सत्यासत्य के विषय में कुछ भी कहना कठिन है।¹²

जहाँ तक गुरु का प्रश्न है आचार्य स्वयं सूचित करते हैं कि उनके गुरु भद्रबाहु थे किन्तु उनके टीकाकार जयसेन (1150 ई.) के अनुसार कुन्दकुन्द के गुरु कुमारनन्दि थे¹³ जबकि नन्दिसंघ की एक पट्टावली के अनुसार कुन्दकुन्द के गुरु जिनचन्द्र थे जो स्वयं माघनन्दि के शिष्य और अर्हद्वलि के प्रशिष्य थे।¹⁴ इन तीनों आधारों में पट्टावली को निबद्ध करने का समय भी सबसे पश्चादवर्ती है, बल्कि अन्य पट्टावलियों, गुर्वावलियों आदि की भांति उसका अन्तिम व्यवस्थीकरण एवं सम्पादन तो और भी बाद में हुआ होगा। मथुरा से प्राप्त ईस्वी सन् के प्रारम्भ के आसपास के एक शिलालेख में कुमारनन्दि नाम के एक जैनाचार्य का उल्लेख है।¹⁵ कुन्दकुन्द के समय तक भद्रबाहु नाम के दो आचार्य हो चुके थे, उनमें से कौन से अभिप्रेत हैं, इस सम्बन्ध में कुछ विवाद है¹⁶ किन्तु ऐसा लगता है कि कुन्दकुन्द का आशय भद्रबाहु द्वितीय (ईसापूर्व 37-14) से है।

इस विषय में कोई सन्देह नहीं है कि आचार्य कुन्दकुन्द दक्षिणात्य थे। उनका नाम कोण्डकुन्द द्रविडदेशीय प्रतीत होता है और कन्नडी प्रदेश के किसी ग्राम या नगर जैसा लगता है।¹⁷ ऐसे स्थलनामाश्रित साहित्यिक उपनामों का प्रचलन द्रविड देशों में रहा भी है और कई जैन गुरुओं के ऐसे नाम प्राप्त भी हैं, यथा तुम्बलूर ग्राम निवासी तुम्बलूराचार्य। उत्तरकालीन लेखकों ने तो स्पष्टतया कथन किया है कि आचार्य कुन्दकुन्द कोण्डकुन्द नगर के निवासी थे।¹⁸ आज भी गुन्तकल रेल-स्टेशन से 6-7 कि. मी. की दूरी पर स्थित इस नाम का एक ग्राम विद्यमान है जिसे इन्हीं आचार्य के जीवन से सम्बद्ध माना जाता है और कहा जाता है कि उन्होंने उक्त ग्राम की निकटवर्ती एक गुफा में तपश्चरण किया था।¹⁹ ऐसी ही एक अनुश्रुति उनका सम्बन्ध नन्दिपर्वत के साथ जोड़ती है।²⁰

कुन्दकुन्दाचार्य का समय-निर्धारण भी पर्याप्त ऊहापोह का विषय रहा है। अनेक आधुनिक विद्वानों ने इस दिशा में प्रयास किये और चौथी शती ईसा पूर्व से लेकर

छठी शती ईस्वी पर्यन्त कई तिथियाँ सामने आई हैं²¹ किन्तु, लोकप्रचलित अनुश्रुति के अनुसार वे 33 वर्ष की आयु में वि. सं. 49 (अर्थात् ईसा पूर्व-8) में आचार्य-पट्ट पर आसीन हुए, 52 वर्ष उनका आचार्यकाल रहा, 85 वर्ष की वय में, सन् 44 ई. में उनका निधन हुआ।²² ऐसा प्रतीत होता है कि वे आचार्य भद्रबाहु द्वितीय और आचार्य अर्हद-बलि के समसामयिक रहे। भिन्न-भिन्न पट्टावलियों में उक्त दोनों आचार्यों की तिथियाँ कुछ भिन्न-भिन्न हैं, जिनकी पूर्वावधि ईसा पूर्व 53 और उत्तरावधि सन् 66 ई. प्राप्त होती है। ऐसा असन्दिग्ध रूप से प्रतीत होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द न केवल 79 ई. में निष्पन्न दिग्म्बर-श्वेताम्बर संघभेद²³ से पूर्व हो चुके थे वरन् मूलसंघ के नन्दि, सेन, सिंह, भद्र, देव आदि संघों में विभक्त होने से भी पहिले हो चुके थे और धरसेन-पुष्पदंत-भूतबलि द्वारा (लगभग 75 ई. में) षट्खण्डागम-सिद्धान्त के रूप में कम्म-पर्याडि-पाहुड नामक आगम के पुस्तकारूढ़ किये जाने से भी पूर्व हो चुके थे। साहित्यिक एवं शिलालेखीय अनुश्रुतियों में कुन्दकुन्द का उल्लेख सदैव उमास्वामी और समन्तभद्र के पूर्व हुआ है। उमास्वामी विरचित तत्त्वार्थाधिगमसूत्र के सुप्रसिद्ध टीकाकार देवनन्दि पूज्यपाद (लगभग 500 ई.) समन्तभद्र का तो नामोल्लेख करते ही हैं और उनके उद्धरण भी देते हैं, कुन्दकुन्द के ग्रन्थों से भी उद्धरण देते हैं। कुन्दकुन्द के परवर्ती जैनाचार्यों एवं ग्रन्थकारों की निर्णीत तिथियाँ यह प्रायः सुनिश्चित कर देती हैं कि स्वयं कुन्दकुन्द प्रथम शती ई. के मध्य से पूर्व ही हुए होने चाहिये। प्रोफेसर ए. चक्रवर्ती ने कुन्दकुन्दाचार्य का समय प्रथम शती ई. निर्धारित किया²⁴, डॉ. ए. एन. उपाध्ये ने विभिन्न मतों तथा प्राप्त साधन-स्रोतों की विशद समीक्षा करके प्रायः उसी समय का समर्थन किया।²⁵ कुन्दकुन्द की कृतियों में प्राप्त प्राकृत भाषा का रूप भी इसी मत की पुष्टि करता है। मथुरा का कुमारनन्दि विषयक पूर्वोक्त शिलालेख²⁶ वर्ष 87 का है, संख्यापाठ कुछ अस्पष्ट है और वह 67 हो सकता है। यतः लेख में ऐसा कोई संकेत नहीं है जिससे उसे कुषाणकालीन (78 ई. का पश्चाद्वर्ती) कहा जा सके, यह सम्भावना है कि उक्त वर्ष संख्या ईसापूर्व 66 में प्रारम्भ होनेवाले प्रथम शक संवत् की हो अर्थात् सन् ईस्वी 1 या 21 का वह लेख है। अतः यह सम्भव है कि कुन्दकुन्द का इन्हीं कुमारनन्दि के साथ साक्षात् सम्पर्क रहा हो और उन्हें वे गुरुतुल्य मानते हों। डॉ० रामकृष्ण गोपाल भंडारकर के कथनानुसार आचार्य कुन्दकुन्द उन प्राचीनतम दिग्म्बर ग्रन्थकारों में से हैं जिनकी कृतियों का उल्लेख अनेक परवर्ती साहित्यकारों ने किया है।²⁷ पीटरसन की रिपोर्ट में भी इन्हें एक अत्यन्त प्राचीन एवं ख्यातिप्राप्त आचार्य रहा बताया है।²⁸ वस्तुतः स्वयं कुन्दकुन्द तो अपने ग्रन्थों में किसी भी पूर्ववर्ती ग्रन्थकार का उल्लेख नहीं करते जिसका कारण यही प्रतीत होता है कि ऐसा कोई लेखक रहा ही नहीं। मूल द्वादशांग-श्रुतागम के साथ उनका सीधा सम्बन्ध असंदिग्ध प्रतीत होता है। उसकी ओर जब भी वे संकेत करते हैं, सहज सामान्य रूप में ही करते हैं। उनकी कृतियों का पारस्परिक आगमिक रूप इस तथ्य से भी प्रमाणित है कि उनमें अनेक गाथाएँ श्वेताम्बर आगम सूत्रों से अभिन्न हैं। तीर्थकरोत्तरकाल की प्राथमिक शताब्दियों में तो वैसे वाक्य अविभक्त पूरे संघ की समानरूप से सम्पत्ति थे और जब संघभेद की भूमिका बनने लगी तो दोनों दलों ने उनके संरक्षण का स्वतन्त्ररूप से प्रयास किया।²⁹ इस सब विवेचन

से यह स्पष्ट है कि भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य प्रथम शती ई. के पूर्वार्ध में हुए हैं और उनका आचार्यकाल ईसा पूर्व 8 से लेकर सन् 44 ई. पर्यन्त रहा ।

आचार्य के विषय में प्रचलित अनुश्रुति है कि मौखिकरूप से प्रवाहित होता आया द्वादशांग-श्रुतागम का जो ज्ञान उन्हें गुरु-परम्परा से प्राप्त हुआ था उसीका उपसंहार करके अथवा उसे ही आधार बनाकर उन्होंने प्राकृत भाषा में अपने छोटे-बड़े 84 पाहुडों (प्राभृतों) की रचना की थी । उनकी कृतियों में कहीं-कहीं जैनेतर सन्दर्भों का भी संकेत है और कभी-कभी पूर्वकाल में हुए कतिपय व्यक्तिविशेषों के भी उल्लेख हैं । ऐसे व्यक्ति ऐतिहासिक रहे हो सकते हैं ।³⁰ आधुनिक युग में उनकी प्रायः सभी उपलब्ध रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं और उनके प्रमुख ग्रन्थों के विस्तृत समीक्षात्मक प्रस्तावनाओं से युक्त सुसम्पादित संस्करण प्राप्त हैं । कई शोध-छात्रों के कुन्दकुन्द साहित्य के दार्शनिक, सांस्कृतिक, भाषा वैज्ञानिक आदि अध्ययन भी शोधप्रबन्धों के रूप में विभिन्न विश्व-विद्यालयों में प्रस्तुत किये जा चुके हैं ।

आचार्य कुन्दकुन्द की सुविदित एवं उपलब्ध कृतियाँ निम्नोक्त हैं—1. समयसार, 2. प्रवचनसार, 3. पंचास्तिकायसार—ये तीनों समुच्चय रूप से प्राभृतत्रय या सारत्रय भी कहलाते हैं जिनकी प्रामाणिकता एवं महत्ता जैन परम्परा में वैसी ही मान्य है जैसी कि वेदान्तियों में प्रस्थानत्रय की है । 4. नियमसार, 5. रयणसार (इस ग्रन्थ का उपलब्ध रूप कुछ विवादास्पद है) 6-15 अष्टपाहुड कुन्दकुन्द रचित आठ प्राभृतों का संग्रह है, उनके कुछ अन्य पाहुड भी शास्त्र भंडारों में प्राप्त हुए हैं । दशपाहुडों का भी एक संकलन प्रकाशित है ।³² इन पाहुड ग्रन्थों में यत्र-तत्र कतिपय उपयोगी ऐतिहासिक सूचनाएँ भी प्राप्त हैं । 16. बारस अणुवेक्खा (द्वादशानुपेक्षा), 17-26 दशभक्ति । इनके अतिरिक्त मुनिधर्म के प्रतिपादक प्राचीन प्राकृत ग्रन्थ मूलाचार के कर्तृत्व का श्रेय भी कुछ विद्वान् कुन्दकुन्द को ही प्रदान करते हैं । उसके कर्ता के रूप में सामान्यतया किन्हीं वट्टकेराचार्य की प्रसिद्धि है जो कुन्दकुन्द ही का एक उपनाम रहा अनुमान किया जाता है ।³³ इन्द्रनन्दि के अनुसार कुन्दकुन्द ने पुस्तकारूढ आगमों के एक अंश पर परिकर्म नाम की टीका भी रची थी किन्तु विबुध श्रीधर के अनुसार उस टीका के कर्ता कुन्दकुन्दाचार्य के एक शिष्य कुन्दकीर्ति थे ।³⁴ यह मत सत्य के अधिक निकट प्रतीत होता है । तमिल देश में प्रचलित एक अनुश्रुति के अनुसार विश्वप्रसिद्ध तमिल नीतिकाव्य कुरल या थिरुकुरल के जो तमिल-वेद भी कहलाता है, रचयिता भी यही कुन्दकुन्दाचार्य अपरनाम एलाचार्य थे, उन्होंने इस ग्रन्थराज को अपने गृहस्थ शिष्य तिरुवल्लवर के माध्यम से तमिल-संगम में प्रविष्ट कराया बताया जाता है । वस्तुतः कुन्दकुन्दादि जैनाचार्यों का प्राचीन तमिल-संगम की साहित्यिक प्रवृत्तियों में प्रभूत प्रेरणा एवं सक्रिय योगदान रहा है, यह तथ्य प्रायः सर्वत्र स्वीकृत है ।³⁵ कुन्दकुन्द-साहित्य के संस्कृत टीकाकारों में अमृतचन्द्राचार्य (दसवीं शती ई.) जयसेन (1150 ई.) बालचन्द्र (1176 ई.) पदमप्रभ मलधारिदेव (1185 ई.) भट्टारक श्रुतसागर (लगभग 1500 ई.) आदि और हिन्दी टीकाकारों में पांडे रूपचन्द, पं. बनारसीदास, पं. जयचन्द छाबड़ा आदि उल्लेखनीय हैं । कुन्दकुन्द के अद्यावधि ज्ञात

एवं उपलब्ध सभी ग्रन्थ प्रकाशित हैं। कुछ के तो कई-कई संस्करण तथा कई देशी-विदेशी भाषाओं में अनुवादादि भी प्रकाशित हो चुके हैं। समयसार के सैकड़ों संस्करण एवं अनुवादादि हैं।

अनेक पुरातन ग्रन्थकारों ने आचार्य का अत्यन्त पूज्यभाव से स्मरण किया है³⁶ और यह उक्ति प्रचलित हो गई कि “हुए हैं, न हैं, न होहिगे मुनिद कुन्दकुन्द से।”

1. सोमैज ग्रॉफ दी हिस्टरी ग्रॉफ एन्शेन्ट इण्डिया, डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन, दिल्ली, 1964 ई., पृ. 120-126।
2. प्रत्येक मांगलिक अवसर पर पढ़ा जानेवाला सर्वाधिक प्रचलित मंगल श्लोक—
मंगलम् भगवान वीरो, मंगलम् गौतमो गणी ।
मंगलम् कुन्दकुन्दार्यो, जैन धर्मोस्तु मंगलम् ॥
3. श्रीमतो वर्धमानस्य वर्धमानस्य शासने ।
श्री कोण्डकुन्दनामाभूमूलसंघाप्रणीगणी ॥ एपी. कर्णा. ii, 69।
4. एपी. कर्णा. ii नं. 64, 66, 69, 117, 127, 140, 254, 258।
वही viii, नं. 35, 36, 37 इत्यादि।
5. वन्द्यो विभुर्भुविन कैरिह कौण्डकुन्दः कुन्दप्रभा-प्रणयि कीर्ति-विभुषिताशः
यश्चारु चारणकराम्बुज चंचरीकश्चक्रे श्रुतस्य भरतेप्रयतः प्रतिष्ठाम् ॥
—श्रवणबेलगोल, शि. ले. नं. 54
6. प्रवचनासार, सम्पादक, डॉ. ए. एन. उपाध्ये, बम्बई 1935, प्रस्तावना, पृ. 2।
7. वही, पृ. 2-4।
8. ए. गुएरिनाट—रपटॉइर डी एपीग्रेफी जैना, नं. 585। किन्तु ‘महामति’ उनका नाम या उपनाम नहीं, वरन् एक विशेषण रहा प्रतीत होता है।
9. जैन एन्टीक्वेरी, xii, 2, पृ. 1923।
10. सद्दवियारो हूम्रो, भासा सुत्तेसु जं जिरोकहियं ।
सो तहकहियं णायं सीसेण य भद्दवाहुस्स ॥
11. प्रवचनसार, उपाध्ये, पृ. 6।
पंचास्तिकाय, ए. चक्रवर्ती, इलाहाबाद, 1920, प्रस्तावना, पृ. 7 आदि।
12. वही। कुन्दकुन्द के टीकाकारों तथा अन्य परवर्ती ग्रन्थकारों एवं शिलालेखों ने इन चमत्कारों आदि को प्रचारित किया।
13. पंचास्तिकाय की अपनी टीका के पुरोवाक्य में।
14. जैन सिद्धान्त भास्कर, i, 4, पृ. 78।
15. ए.पी. इण्डिका, परिशिष्ट (लूडर्स) नं. 7।
16. प्रवचनसार, उपाध्ये, पृ. 16।
17. (i) पुरातन जैन वाक्य सूची, जु. कि. मुख्तार, सरसावा, 1950, प्रस्तावना, पृ. 19।

- (ii) प्रवचनसार, अंग्रेजी अनुवाद—बी. फंडेगन, प्रस्तावना, एफ. डब्ल्यू. टॉमस, पृ. 15, कैम्ब्रिज, 1935 ।
18. (i) श्रुतावतारकार इन्द्रनन्दि (10वीं शती), टीकाकार बालचन्द्र (1176 ई.) ।
 (ii) जैन सिद्धान्त भास्कर, xix 2, और xx 3 पृ. 16 ।
19. प्रवचनसार, उपाध्ये ।
20. राईस, एपी. कर्णा भूमिका. पृ. 9-10, सालतोर, मेडि जैनज्म पृ. 256 ।
21. (i) प्र. सा., उपाध्ये ।
 (ii) पंचास्तिकाय, चक्रवर्ती ।
 (iii) टॉमस, वही ।
 (iv) इण्डि-एन्टी, के. बी. पाठक, पृ. 15 ।
 (v) नाथूराम प्रेमी, जैनजगत, viii, 4 ।
 (vi) समयसार, गजाधरलाल, (बनारस, 1914) प्रस्तावना ।
 (vii) स्वामि सप्तमद्र, जु. कि. मुस्तार, पृ. 158 ।
22. पीटरसन-रिपोर्ट 1883-84 पृ. 163-66 होर्नले-इण्डि-एन्टी पृ. 341-61 ।
23. सोर्सेज ऑफ द हिस्टरी ऑफ एन्शेन्ट इण्डिया, ज्योतिप्रसाद जैन, पृ. 133 ।
24. पंचास्तिकाय, चक्रवर्ती, प्रस्तावना ।
25. प्रवचनसार, उपाध्ये, प्रस्तावना, वही ।
26. एपी. इण्डि. ऐपेन्डक्स, नं. 71 ।
27. भंडारकर-रिपोर्ट, 1883-84, पृ. 430 ।
28. पीटरसन रिपोर्ट, 1883-84, पृ. 80 ।
29. प्रवचनासार, उपाध्ये, प्रस्तावना ।
30. वही ।
31. पार्श्वनाथ वि. शो. संस्थान, वाराणसी से प्रकाशित (1983 ई.) स्वीकृत शोध-प्रबन्ध सूची ।
32. दशपाहुड, षट्प्राभृतादि संग्रह, प्रकाशक-माणिकचन्द्र, दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला ।
33. (i) जैन एन्टीक्वेरी, 2, पृ. 19-23 ।
 (ii) पुरातन जैन वाक्य सूची, जु. कि. मुस्तार, प्रस्तावना ।
34. इन्द्रनन्दि और विबुध श्रीधर के श्रुतावतार ।
35. (i) जैना लिटरेचर इन तमिल, चक्रवर्ती (आरा 1941) पृ. 14-19 ।
 (ii) पंचास्तिकाय, चक्रवर्ती, प्रस्तावना ।
 (iii) प्रवचनसार, उपाध्ये, पृ. 20-21 ।
 (iv) इण्डि. एन्टी. पृ. 20 ।
36. शोधांक 15, 16, 17, 18, 19—गुरुगुरुकीर्तन : कुन्दकुन्दाचार्य ।

दार्शनिक व्याख्याता कुन्दकुन्दाचार्य विचार और विवेचना

—डॉ. आदित्य प्रचण्डिया 'दीति'



साहित्य का पूर्णतया मूल्यांकन, उसकी व्याख्या की सम्पूर्णता का दावा, उसमें निहित विचार-पद्धतियों का सुलभा हुआ सर्वेक्षण, साहित्य का मन्तव्य आदि तब तक सम्भव नहीं जब तक कि तात्कालिक समाज का गहन अध्ययन न किया जाए, बाह्य प्रभावों से प्रभावित कवि-मानस पटल की लिपि को न पढ़ा जाए। श्रमण संस्कृति के समुन्नयन में दार्शनिक व्याख्याता कुन्दकुन्दाचार्य का अवदान अविस्मरणीय है और महनीय भी। दीर्घतपस्वी, ऋद्धिधारक और अतिशय ज्ञान-सम्पन्न श्रमणाचार्य कुन्दकुन्द का नाम-स्मरण विभु वर्द्धमान और इन्द्रभूति गौतमगणधर के उपरान्त ही आज भी किया जाता है। महामनीषी महर्षि कुन्दकुन्दाचार्य द्रव्यानुयोग, अध्यात्म और तत्त्वज्ञान के पुरस्कर्ता हैं। एक ओर उन्होंने 'समयप्राभृत' के द्वारा जैन अध्यात्म का प्रस्थापन किया तो दूसरी ओर 'प्रवचनसार' आदि के द्वारा जैन तत्त्वज्ञान को मूर्तरूप दिया। उनका साहित्य-संसार उनके सहजानंद की अद्भुत अभिव्यंजना है। उसमें आत्मानुभूति का अमृतार्णव हिलोरें लेता है।

कुन्दकुन्दाचार्य ने प्राकृत शौरसेनी की पृष्ठभूमि में अपने ग्रंथों की रचना प्रधान-रूप से श्रमणों को लक्ष्य में रखकर उन्हीं के उद्देश्य से की है। उनके द्वारा रचित पाहुड श्रमणाचार-विषयक शिक्षा से ओत-प्रोत हैं। कुन्दकुन्द के ग्रंथों की शैली सरल और स्पष्ट है उसमें दुरूह जैसी बात नहीं है। उन्होंने जो कुछ कहा है बहुत सीधे-सादे शब्दों में कहा है। जैन अध्यात्म का मुकुटमणि 'समयसार' इसका प्रत्यक्ष निरूपमेय निदर्शन है। यह आचार्यश्री की अगाध विद्वत्ता और सुगम प्रतिपादन शैली का स्पष्ट परिचायक

है। 'प्रवचनसार' का वस्तुनिरूपण अवश्य ही तर्कप्रधान शैली को लिये हुए है तथापि दुरूह नहीं है। जहाँ 'समयसार' से आचार्य कुन्दकुन्द के सांख्यदर्शन और उपनिषद् विषयक पाण्डित्य का पता चलता है वहाँ 'प्रवचनसार' से ज्ञात होता है कि कुन्दकुन्द न्याय-वैशेषिक दर्शन के भी पण्डित थे। बौद्धों के विज्ञानाद्वैतवाद तथा शून्यवाद से भी वे अपरिचित नहीं दीखते। इस स्व-पर समयज्ञता के कारण ही आचार्य कुन्दकुन्द जैन तत्त्वज्ञान का परिमित शब्दों के द्वारा परिमार्जित शैली में निरूपण कर सके जो परवर्ती आचार्यों के लिए आधारशिला बना। श्री गोपालदास जीवामाई पटेल 'कुन्दकुन्दाचार्य के तीन रत्न', पृष्ठ 18 पर आचार्यश्री के अभिव्यञ्जना-कौशल के लिए शब्दार्थ अर्पण करते हैं—“कहीं आत्मा का वास्तविक स्वरूप, कहीं कर्मबन्धन का स्वरूप, कहीं कर्मबन्धन को रोकने का उपाय इस प्रकार महत्त्वपूर्ण विषयों पर वे अपना हृदय निःसंकोचभाव से खोलते जाते हैं। किसी-किसी जगह तो ऐसा प्रतीत होने लगता है कि लेखक बुद्धि से परे की अनुभव की कहानी कह रहे हैं।” यहाँ प्रस्तुत आलेख में जैनदर्शन के प्रकृष्ट और विशिष्ट व्याख्याता कुन्दकुन्दाचार्य के विचारों का विवेचन प्रस्तुत करना हमें अभीप्सित है।

आत्मा को आधार मानकर जो चिन्तन और आचरण किया जाता है उसे अध्यात्म कहते हैं। कुन्दकुन्द-साहित्य में आध्यात्मिक जिज्ञासा और विचारणा के अभिदर्शन विविध रूपों में होते हैं। आचार्यश्री 'मोक्षपाहुड' में आत्मा के तीन स्वरूपों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि आत्मा के तीन प्रकार हैं—अंतरात्मा, बहिरात्मा और परमात्मा। अन्तरात्मा के उपाय से बहिरात्मा का परित्याग कर परमात्मा का ध्यान करना अपेक्षित है। यथा—

तिष्यारो सो अप्पा परमंतरबाहिरो दु हेऊणं ।

तत्थ परो भाइज्जइ, अंतोवाएण चएहि बहिरप्पा ॥ 4, मो. पा.

तीनों के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द का कहना है कि इन्द्रियों के स्पर्शनादि के द्वारा विषयज्ञान करानेवाला बहिरात्मा होता है। इन्द्रियों से परे मन के द्वारा देखनेवाला, जाननेवाला 'मैं हूँ' ऐसा स्व-संवेदन-गोचर संकल्प अन्तरात्मा है और द्रव्यकर्म अर्थात् ज्ञानावरणादि, भावकर्म अर्थात् रागद्वेषमोहादि, नोकर्म अर्थात् शरीर आदि मलरहित अनंतज्ञानादि गुणसहित परमात्मा है। यथा—

अक्खारिण बहिरप्पा अन्तरप्पा हु अप्पसंकप्पो ।

कम्मकलंकविमुक्को परमप्पा भण्णए देवो ॥ 5, मो. पा.

आत्मा और परमात्मा में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। बाह्यावरण या पुद्गल के संयोग के ही कारण आत्मा अपने स्वरूप से अनभिज्ञ हो जाता है दोनों में केवल पर्याय-भेद होता है। अतएव प्रत्येक आत्मा कर्मादि से मुक्त होकर उसी प्रकार परमात्मा बन सकता है जिस प्रकार सुवर्ण-पाषाण शोधनसामग्री द्वारा स्वर्ण शुद्ध बन जाता है। यथा—

अइसोहरण जोएणं सुद्धं हेमं हवेइ जह तह य ।

कालाईलद्धीए अप्पा परमप्पो हवदि ॥ 24, मो. पा.

आचार्य कुन्दकुन्द ने बाह्याचार का खण्डन किया है। यहाँ तक कि जैनधर्म के मूलाधार 'लिंगग्रहण' आदि का भी विरोध किया और कहा कि जो साधु बाह्य लिंग से युक्त है, अभ्यन्तर लिंगरहित है, वह आत्मस्वरूप से भ्रष्ट है और मोक्ष-पथ-विनाशक है। यथा—

बाहिरलिंगेण जुदो अरुभंतर लिंगरहियपरियम्भो ।

सो सगचरित्रभट्टो मोक्खपहविणासगो साह ॥ 61, मो. पा.

आचार्यश्री का विश्वास था कि ऐसे व्यक्ति को मोक्ष नहीं मिल सकता जो 'भाव' से रहित है, वह चाहे अनेक जन्मों तक विविध प्रकार के तप करता रहे और वस्त्रों का परित्याग कर दे। यथा—

भावरहिओ ण सिज्भइ जइ वि तवं चरइ कोडिकोडीओ ।

जम्मंतराइ बहुसो लंबियहत्थो गलियवथो ॥ 4, भा. पा.

स्व-संवेद्यज्ञान और पुस्तकीय ज्ञान में भारी अंतर है। सभी संतों ने यह स्वीकारा है कि मात्र बाह्यज्ञान या पुस्तकज्ञान से कोई भी व्यक्ति 'परमतत्त्व' को जान नहीं सकता। उसके लिए अनुभूति और स्वसंवेद्य ज्ञान की अपेक्षा होती है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि अनेक शास्त्रों को पढ़ना तथा बहुविध बाह्यचारित्र करना, बालचारित्र के सदृश है, आत्मस्वभाव के प्रतिकूल है। यथा—

जदि पढदि बहुसुदारिण य जदि कहदि बहुविहे य चारित्ते ।

तं बालसुदं चरणं हवेइ अप्पस्स विवरीदं ॥ 100, मो. पा.

जगत् में जो कुछ है वह द्रव्य हो या गुण हो या पर्याय हो, सबसे पहले सत् है उसके पश्चात् ही वह अन्य कुछ है। जो सत् नहीं है वह कुछ भी नहीं है। अतः प्रत्येक वस्तु सत् है। सत् के भाव को ही सत्ता या अस्तित्व कहते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने 'पंचास्तिकाय' में सत्तास्वरूप इस प्रकार व्यक्त किया है—

सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणंतपज्जाया ।

भंगुप्पादधुवत्ता सप्पडिवक्खा हवदि एक्का ॥ 8 ॥

—अर्थात् सत्ता सब पदार्थों में रहती है, समस्त पदार्थों के समस्त रूपों में रहती है, समस्त पदार्थों की अनन्त पर्यायों में रहती है, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है, एक है और सप्रतिपक्षा है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने सत्ता को सप्रतिपक्षा बतलाकर वस्तु-विज्ञान का यही रहस्य उद्घाटित किया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने 'प्रवचनसार' के ज्ञेयाधिकार में गाथा संख्या

तीन के द्वारा तथा 'पंचास्तिकाय' में गाथा संख्या दस के द्वारा द्रव्य का लक्षण इस प्रकार कहा है—

**अपरिचक्षत्सहावेणुप्पादव्यय ध्रुवत्त संबद्धं ।
गुणवं च सपज्जायं जत्तं दव्वत्ति वृच्चंति ॥ प्र. सा.**

अर्थात् स्वभाव को छोड़े बिना जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-संयुक्त है तथा गुणयुक्त और पर्यायसहित है उसे 'द्रव्य' कहते हैं ।

और—

**दव्वं सत्त्वत्तखणियं उप्पादव्ययध्रुवत्तसंजुत्तं ।
गुण पज्जयासयं वा जं तं भणंति सव्वण्हं ॥ पं. सं.**

—अर्थात् जिसका लक्षण सत् है वह द्रव्य है । जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है वह द्रव्य है तथा जो गुण और पर्याय का आश्रय है वह द्रव्य है ।

कुन्दकुन्द ने द्रव्य को ही सत् और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक कहा है । वह द्रव्य को सत्ता से अनन्यभूत स्वीकारते हैं । द्रव्य के बिना गुण नहीं रह सकते और गुण के बिना द्रव्य नहीं रह सकता । नाम, लक्षण आदि के भेद से द्रव्य और गुण में भेद होने पर भी दोनों का अस्तित्व एक ही है अतः वस्तुत्वरूप से दोनों अभिन्न हैं । सारांश यह है कि द्रव्य से भिन्न न गुण का कोई अस्तित्व है और न पर्याय का । जैसे सोने से भिन्न न पीलापन है और न कुण्डलादि । अतः द्रव्य से उसके गुण और पर्याय भिन्न नहीं हैं । चूँकि सत्ता द्रव्य का स्वरूपभूत अस्तित्व नामक गुण है अतः वह द्रव्य से भिन्न कैसे हो सकती है ? इसलिए द्रव्य स्वयं सत्स्वरूप है ।

द्रव्य सत् है, गुणपर्यायवाला है और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है । आचार्य कुन्दकुन्द ने इन तीन लक्षणों के द्वारा द्रव्य के स्वरूप का विश्लेषण किया है जो बतलाता है कि जैनदर्शन में एक ही मूल पदार्थ है और वह है द्रव्य । वह अनन्त गुणों का एक अखण्ड पिण्ड होने से गुरात्मक है । गुणों से भिन्न द्रव्य का और द्रव्य से भिन्न गुणों का कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है । गुण परिणामनशील हैं । अतः द्रव्य केवल गुरात्मक ही नहीं है पर्यायात्मक भी है ।

आचार्य कुन्दकुन्द ने 'नियमसार' गाथा पन्द्रह में पर्याय के दो भेद किये हैं— विभावपर्याय और स्वभावपर्याय । अन्यनिरपेक्ष परिणामन को स्वभावपर्याय और अन्यसापेक्ष परिणामन को विभावपर्याय कहते हैं । जीव और पुद्गल में स्वभाव और विभाव दोनों हैं । उनमें से सिद्ध जीवों में तो स्वभावपर्याय ही है और संसारी जीवों में विभाव की मुख्यता है । पुद्गल परमाणु में स्वभावपर्याय है तथा स्कन्ध में विभावपर्याय ही है क्योंकि परमाणु के गुण स्वाभाविक और स्कन्ध के गुण वैभाविक हैं । परमाणु का परिणाम अन्यनिरपेक्ष होता है और स्कन्धरूप परिणामन अन्यसापेक्ष होता है ।

द्रव्य के मूल भेद दो हैं—जीव और अजीव । चैतन्य उपयोगमय द्रव्य को जीव-द्रव्य कहते हैं और अचेतन जड़ द्रव्यों को अजीव कहते हैं । यथा—

द्ववं जीवमजीवं जीवो गुण चेदणोपयोगमयो ।

पोग्गलदव्वप्पमुहं अचेदणं हवदि य अजीवं ॥ 2.35 प्र. सा.

गुणों के भेद से ही द्रव्यों में भेद होता है । गुण ही द्रव्य के लिंग अथवा चिह्न हैं । गुणों से ही द्रव्य का स्वरूप जाना जाता है । गुण दो प्रकार के हैं—मूर्तिक और अमूर्तिक । मूर्तिक द्रव्य के गुण मूर्तिक और अमूर्तिक द्रव्यों के गुण अमूर्तिक होते हैं । मूर्तिक द्रव्य केवल एक है उसे पुद्गल कहते हैं और जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, ये पाँच द्रव्य अमूर्तिक हैं । यथा—

लिंगोहि जेहि द्ववं जीवमजीवं च हवदि विण्णादं ।

ते तन्भावविसिट्ठा मुत्तामुत्ता गुणा णेया ॥ 2.38 प्र. सा.

प्रवचनसार (2.55) तथा पंचास्तिकाय (30) में जीव शब्द की व्युत्पत्ति के द्वारा उसका स्वरूप बतलाते हुए लिखा है—“जो बल, इन्द्रिय, आयु और श्वासोच्छ्वास इन चार प्राणों से वर्तमान काल में जीता है, भूतकाल में जिया था और भविष्यकाल में जियेगा वह जीव है ।” ‘पंचास्तिकाय’ (27) में आचार्यश्री ने उस जीव को चेतयिता, उपयोगविशिष्ट, प्रभु-कर्ता, भोक्ता, शरीरप्रमाण, अमूर्तिक किन्तु कर्म से संयुक्त बतलाया है । जीव दो प्रकार के हैं—संसारी और मुक्त । दोनों ही प्रकार के जीव चेतनात्मक और उपयोग लक्षणवाले होते हैं किन्तु संसारी शरीरसहित होते हैं और मुक्त शरीररहित होते हैं । पृथ्वीकायिक आदि एकेन्द्रिय, शंख आदि द्वीन्द्रिय, यूका आदि त्रीन्द्रिय, डांस आदि चतुरिन्द्रिय और मनुष्य आदि पंचेन्द्रिय ये संसारी जीव के भेद हैं । ये भेद इन्द्रिय की अपेक्षा से हैं । चार प्रकार के देव, कर्मभूमिज और भोगभूमिज मनुष्य, बहुत तरह के तिर्यञ्च तथा नारकी, ये गति की अपेक्षा संसारी जीवों के भेद हैं ।

आचार्य कुन्दकुन्द ने द्रव्य, गुण और पर्यायों को अर्थ कहा है । ‘प्रवचनसार’ (21) में अर्थ को द्रव्यमय और द्रव्य को गुणपर्यायमय बतलाकर द्रव्य, गुण और पर्याय को अर्थ क्यों कहा है इसको स्पष्ट किया है किन्तु ‘पंचास्तिकाय’ (198) में जीव, अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष को अर्थ कहा है । ‘नियमसार’ (9) में नाना गुणपर्यायों से संयुक्त जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश को तत्त्वार्थ कहा है । ‘दर्शनप्राभृत’ (19) में छहद्रव्य, नौपदार्थ, पाँच अस्तिकाय और सात तत्त्वों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है । इसका अभिप्राय यह हुआ कि अर्थ, पदार्थ और तत्त्वार्थ एकार्थक हैं फिर भी उनमें दृष्टिभेद है । जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य कहे जाते हैं, इनमें से काल को पृथक् कर देने से शेष पाँच को अस्तिकाय कहते हैं । इसी तरह जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष ये नौ पदार्थ कहे जाते हैं । इनमें से पुण्य और पाप को पृथक् कर देने से शेष सात तत्त्व कहे जाते हैं । इन्हीं के यथार्थ श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं । सम्यग्दर्शन ही मोक्ष का

मूल कारण है। अतः कुन्दकुन्द ने अपने 'समयसार', 'पंचास्तिकाय', 'नियमसार' और 'प्रवचनसार' में तत्त्वों, पदार्थों और द्रव्यों का ही विशेषरूप से कथन किया है।

कुन्दकुन्दाचार्य की व्याख्यान शैली व्यवहारनय और निश्चयनय पर आश्रित है। 'समयप्राभृत' में वे लिखते हैं—

व्यवहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।

भूदत्थ मस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो ॥ 11 ॥

—अर्थात् समय में व्यवहारनय को अभूतार्थ और शुद्धनय को भूतार्थ बतलाया है। इनमें से भूतार्थ का आश्रय करनेवाला जीव सम्यग्दृष्टि है।

कुन्दकुन्दाचार्य ने अभूतार्थ और भूतार्थ की मर्यादा का स्वयं निर्देश नहीं किया फिर भी उनकी व्याख्यान शैली से इसका पता लग जाता है। पंडित फूलचन्द जैन सिद्धान्तशास्त्री 'सर्वज्ञता के अतीत इतिहास की एक झलक' निबन्ध में कुन्दकुन्द की व्याख्यान शैली में निम्न बातों को अपनाये जाने की बात कहते हैं—

1. जीव और देह एक है, यह व्यवहारनय है। जीव और देह एक नहीं किन्तु पृथक्-पृथक् हैं यह निश्चयनय है। (समयप्राभृत 32)
2. वर्णादिक जीव के हैं, यह व्यवहारनय है तथा ये जीव के नहीं हैं, यह निश्चयनय है। (समयप्राभृत 61)
3. रागादिक जीव के हैं, यह व्यवहारनय है और ये जीव के नहीं हैं, यह निश्चयनय है। (समयप्राभृत 51)
4. क्षायिक आदि भाव जीव के हैं, यह व्यवहारनय है किन्तु शुद्ध जीव के न क्षायिक भाव होते हैं और न अन्य कोई भाव यह निश्चयनय है।
(नियमसार 41)
5. केवली भगवान् सबको जानते और देखते हैं, यह व्यवहारनय है किन्तु अपने आपको जानते और देखते हैं, यह निश्चयनय है। (नियमसार 158)
6. शरीर जीव का है ऐसा मानना व्यवहार है और शरीर जीव से भिन्न है ऐसा मानना निश्चय है। (समयप्राभृत 55)

उक्त छह तथ्यपूर्ण बातों से व्यवहारनय और निश्चयनय की कथनी पर पर्याप्त प्रकाश पड़ जाता है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने जो व्यवहार को अभूतार्थ कहा है वह व्यवहार की अपेक्षा नहीं किन्तु निश्चय की अपेक्षा से कहा है। व्यवहार अपने अर्थ में उतना ही सत्य है जितना कि निश्चय। जिस प्रकार हम विविध पदार्थों को जानते हैं किन्तु हमारा वह सब जानना भूटा नहीं है फिर भी वह ज्ञान ज्ञानस्वरूप ही रहता है। उसी प्रकार केवली

भगवान् सब पदार्थों को जानते और देखते हैं किन्तु उनका वह जानना असत्य नहीं है। फिर भी वह उनका ज्ञायकभाव आत्मनिष्ठ ही है। उक्त व्यवहार और निश्चय की कथनी का यही मथितार्थ है। आचार्य कुन्दकुन्द कृत 'समयसार' और 'नियमसार' में निश्चय-व्यवहार की मुख्यता है तथा 'प्रवचनसार' और 'पंचास्तिकाय' में द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनय की मुख्यता है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र की एकरूपता ही मोक्षमार्ग है। इन त्रय को कुन्दकुन्द ने इस प्रकार परिभाषित किया है—

सम्भक्तं सहृहणं भावाणं तेसिमधिगमो णाणं ।

चारित्तं समभावो विसयेसु विरूढमग्गणं ॥ 107 पंचास्तिकाय

—भावों (पदार्थों) का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है और उनका ज्ञान सम्यग्ज्ञान है तथा पंचेन्द्रिय के विषयों के प्रति वर्तता हुआ समभाव और आत्मा में आरूढभाव सम्यग्चारित्र है। यही सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमय मोक्षमार्ग आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रंथों का मूल प्रतिपाद्य है। 'नियमसार' का आरम्भिक कथन द्रष्टव्य है—

मग्गो मग्गफलं तिय, दुविहं जिणसासणे समक्खादं ।

मग्गो मोक्खउवाओ तस्स फलं होइ णिव्वाणं ॥ 2 ॥

—अर्थात् जिनशासन में मार्ग और मार्गफल—ऐसे दो प्रकार का कथन किया गया है। मार्ग मोक्ष का उपाय है और निर्वाण उसका फल है।

आचार्य कुन्दकुन्द का चिन्तन-दर्शन स्पष्ट है कि आत्मज्ञान के बिना परमतत्त्व की प्राप्ति असम्भव है। आत्मज्ञान स्वात्मानुभूति का विषय है। स्वात्मानुभूति सम्यग्दृष्टि से सम्भव है। सम्यग्दृष्टि होने के लिए आचार-विचारों में निर्मलता और आत्मतत्त्व में अभिरुचि अपेक्षित है। धर्मविषयक मान्यता के सम्बन्ध में आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि बहुत गहरी और सुलभी हुई परिलक्षित होती है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में चारित्र को धर्म स्वीकारा है। धर्म प्राणिमात्र को जीना सिखाता है। श्रावक का लक्ष्य धर्म को अपने जीवन में उतारना है। श्रावक का आदर्श श्रमण का जीवन है। विषय-कषार्थों का परिहार ही श्रमण और श्रावक की मुख्य ईप्सा होनी चाहिए। कर्म करते समय व्यक्ति के परिणामों में कषाय अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ आदि की मन्दता होनी चाहिए। शुद्ध आत्मानुभूति की ओर सतत सर्वदा लक्ष्य रखना चाहिए तथा परिणामों की विशुद्धता के साथ मोही, रागी, अज्ञानी जीवों तथा उनकी अशुद्ध व्यावहारिक क्रियाओं को देखकर उनकी उपेक्षा तथा निन्दा नहीं करनी चाहिए। आत्मज्ञान हो जाने पर सदा विशुद्ध अखण्ड परमात्मा की स्वसंवेदनात्मक अनुभूति में लीन रहना चाहिए। इनका विस्तार से वर्णन कुन्दकुन्दाचार्य की रचनाओं में दृष्टिगत है।

आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाओं में लोक-कल्याण की भावना स्पष्टरूप से परिलक्षित होती है। आचार्यश्री का कहना है कि जितने वचन-पंथ हैं उतने नयवाद हैं और

जितने नयवाद हैं उतने मत हैं। सभी मत और सम्प्रदाय मानव के लिए हैं। मानव मत और सम्प्रदाय के पीछे नहीं है अतएव किसी भी मत और धर्म के पालन के लिए मनुष्य को रोक-टोक नहीं होनी चाहिए। मानव अपने गुणों के कारण संसार के सब प्राणियों में श्रेष्ठ है। शरीर वंदनयोग्य नहीं होता, कुल और जाति भी वन्दनीय नहीं होते। गुणहीन श्रमण और श्रावक की कोई वंदना नहीं करता। 'दंसणपाहुड' में आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—

ए व देहो वंदिज्जइ ए व य कुलो ए व य जाइसंजुत्तो ।

को वंदइ गुणहीणो एणहु सबणो एण्य सावओ होइ ॥ 27 ॥

उपर्यंकित विचार-विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने प्रतिपादन में उन सम्पूर्ण विषयों को समाहित कर लिया है जो आत्महित के लिए अत्यन्त उपादेय हैं, मोक्षमार्ग के मूलाधार हैं। आचार्यश्री के दार्शनिक विचार मूलतः जैनदर्शन के ही विचार हैं। उनके ग्रंथों में जैनदर्शन के सभी विचारों का सशक्त प्रतिपादन हुआ है। आचार्य कुन्दकुन्द के विचार उनकी अनुभूति के अंग हैं। उनके चिन्तन में तर्क और अनुभूति का सुन्दर समन्वय है। उनको हृदयंगम किए बिना जैनाचार और विचार को सम्यक् रूप से समझा नहीं जा सकता। वस्तुतः कुन्दकुन्दाचार्य के दार्शनिक विचार जिनअध्यात्म के कल्पवृक्ष हैं।



आचार्य कुन्दकुन्द की देन

—डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री



जगत्, जीव और पदार्थ का अन्वेषण, शोध-अनुसन्धान करनेवाले आज तक जितने ज्ञानी, वैज्ञानिक, चिन्तक या दार्शनिक हुए हैं उन सबकी पहुँच भिन्न-भिन्न प्रतीत होती है। इसलिए उन सबके मत भिन्न-भिन्न हैं। वास्तव में यथार्थज्ञानियों का एक ही मत होता है क्योंकि उनकी दृष्टि, ज्ञान और प्रवृत्ति में कोई भिन्नता नहीं होती। अनन्तज्ञानियों का श्रद्धान, ज्ञान और आचरण सदा समान लक्षित होता है किन्तु अज्ञानियों की रुचि, समझ और आचरण में सदा अन्तर बना रहता है, विभिन्नता परिलक्षित होती है। इस भिन्नता का कारण अल्पज्ञानियों की समझ की विपरीतता है। दुःखी जीव सदा से परभावों में, परवस्तुओं में सुख मानता, खोजता आया है लेकिन स्वयं आनन्द का निधान, सुख का खजाना है—ऐसा उसने आज तक नहीं समझा है। यदि हम अपने में सुख की कल्पना कर लें तब तो सुखी हो सकते हैं, नहीं कल्पना तो जल्पना ही है। वास्तव में हमें कल्पना-विकल्पना में नहीं उलझना है, वस्तु जो जैसी है उसके निज स्वभाव से उसे वैसा स्वीकार करना है।

जैनदर्शन वस्तुवादी दर्शन है। जिसमें अनन्त गुण बसते हैं उसे वस्तु कहते हैं। वस्तु स्वभाव से सामान्य और विशेष से परिपूर्ण है। वस्तुतः चैतन्य मात्र जीव ही ध्रुव है। वस्तु में प्रत्येक समय होनेवाला परिणामन स्थायी नहीं है। जो अस्थायी है, अनित्य है, उससे कभी भी वस्तु को नहीं समझा जा सकता क्योंकि निज रस से प्रकट होनेवाली वस्तु सदाकाल एक रूप ही रहती है। जिस वस्तु से जो भाव निष्पन्न होता है वह भाव वह

वस्तु ही है। बिना भाव और बिना आकार के कोई वस्तु नहीं होती किन्तु चैतन्य द्रव्य के चेतन भाव ही होते हैं। अचेतन भाव चैतन्य के कार्य नहीं है। गन्ध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, संस्थान, संहनन आदि पुद्गलमय नामकर्म की रचना होने से पुद्गल से अभिन्न है। पौद्गलिक किंवा जड़ या भौतिक विश्व भिन्न है और चैतन्य जगत् सर्वथा भिन्न है।

आचार्य कुन्दकुन्द की सबसे बड़ी देन है—तत्त्वज्ञान। वस्तु के स्वरूप का ज्ञान कराने के लिए गुण, पर्याय से युक्त वस्तु जो प्रमाण का विषय है, गुणों का समूह द्रव्य जो द्रव्यार्थिक नय का विषय है और पर्यायनिरपेक्ष द्रव्य जो शुद्धनय का विषय है—इन सभी से और मुख्यरूप से शुद्धनय की दृष्टि से 'समयसार' का निरूपण किया गया है। वास्तव में 'सम्यग्दर्शन' को समझने के लिए 'समयसार' जैसे महान् ग्रन्थ की रचना कर आचार्य कुन्दकुन्द ने उत्कृष्ट शोधप्रबन्ध (थीसिस) भव्य जीवों को प्रदान किया है, जिसकी जोड़ का आज भी विश्व में कोई शास्त्र उपलब्ध नहीं है। यह सुनिश्चित है कि जो सम्यग्दर्शन को प्राप्त करना चाहता है उसे 'समयसार' समझना अनिवार्य है। 'समयसार' को समझे बिना ज्ञान की आँख नहीं खुल सकती। उनकी इस महान् देन से विश्व का वाङ्मय सदा उपकृत रहेगा। यद्यपि आचार्य कुन्दकुन्द के पहले और बाद में भी इस देश में अनेक आचार्य, योगी, सन्त हुए लेकिन उन जैसे रचनाकार दुर्लभ हैं।

प्रतिदिन हम अनेक वस्तुओं को देखते हैं। सुबह से शाम तक विभिन्न पदार्थों के सम्पर्क में आते रहते हैं। उनकी चमक-दमक, रूप-रंग, बनावट आदि की ओर भी हमारा ध्यान जाता है। किन्तु हम उनके सम्बन्ध में जो भी जानते हैं वह या तो विरोधाभासमूलक होता है अथवा विपर्यय, मिथ्या होता है। बर्टेन्ड रसेल के शब्दों में—“मेरा विश्वास है कि सूर्य धरती से 93 लाख मील की दूरी पर है। यह गर्म भूमण्डल (ग्लोब) है जो इस पृथ्वी से कई गुना बड़ा है। सूर्य पृथ्वी के चारों ओर घूमता रहता है। वह प्रत्येक सुबह उदित होता है और भविष्य में अनिश्चित काल तक उदय होता रहेगा।”¹ यद्यपि सूर्योदय के समय सूर्य को जो भी देखेगा उसे सूर्य का लाल गोला ही दिखलाई पड़ेगा किन्तु वास्तव में सूर्य क्या है? इससे हम अनजान हैं। हमारा तुरन्त का अनुभव गलत भी हो सकता है। हम जिन पदार्थों को देखते-जानते हैं वे सभी हमारे अनुभव-बोध में जैसे प्रतीत होते हैं वैसे ही हम उनका ज्ञान करते हैं। हम जिस कुर्सी पर बैठे हुए हैं उसका रूप-रंग देख कर, हल्की-भारी, चिकनी-खुरदरी छू कर और प्रत्यय-बोध की धारणा में जैसी पहले आ चुकी है उसी के अनुसार जानते हैं। वास्तव में कुर्सी क्या है? क्या हम इसे जानते हैं? क्या वास्तविक कुर्सी का अस्तित्व है? यदि है तो वह भौतिक पदार्थ ही है। हमारी संवेदनशील प्रज्ञा में 'कुर्सी' का समाहितरूप उद्बुद्ध होता है। पदार्थ का बाहरी अस्तित्व तो हमारी दृष्टि में आता है किन्तु वास्तव में पदार्थ अनुभूतिगम्य होता है। प्रतीत होनेवाला पदार्थ प्रत्येक समय में परिवर्तित होता रहता है। जो बदल रहा है, प्रत्येक क्षण में जो नये सौन्दर्य को धारण कर रहा है और क्षण भर के पश्चात् जो रहनेवाला नहीं है, वह पदार्थ नहीं है क्योंकि पदार्थ ध्रुव है, नित्य है, त्रैकालिक है। हमारे अनुभव में आनेवाले पदार्थों में से कोई भी बिल्कुल नया नहीं है। उसे हम कभी न कमी देख चुके हैं, जान चुके हैं और अनुभव

का विषय बना चुके हैं, फिर भी, उसकी वास्तविकता से अपरिचित रहे हैं। अधिकतर दार्शनिक यही मानते हैं कि हमारे अनुभव में जो वस्तुविषयक प्रत्यय चिन्तन-अनुभवन में आ रहा है, वही वास्तविक है।²

जिनशासन की वास्तविकता यही है कि जब तक सकल निरावरण-अखण्ड एक प्रत्यक्षप्रतिभासमय अविनश्वर शुद्ध पारिणामिक परमभाव लक्षण निज परमात्मद्रव्य-वह ही मैं हूँ—ऐसा वस्तु का यथार्थ स्वीकार स्व संवेदन ज्ञान नहीं होता है तब तक पूर्ण आनन्द के नाथ का न तो परमात्म-दर्शन होता है और न जिनशासन की पूर्ण स्वीकृति होती है। जिनशासन की स्वीकृति के बिना यह जैन ज्ञानी कैसे हो सकता है? अतः आचार्य कुन्दकुन्द वास्तविकता से अनभिज्ञ को अप्रतिबुद्ध कहते हैं।³ जैसे—स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण आदि भावों में घड़ा है और घड़े में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण हैं, उसी प्रकार पुण्य-पाप के अन्तरंग परिणाम (भावकर्म) ज्ञानावरणादि जड़कर्म तथा नोकर्म-शरीरादि बहिरंग पुद्गल परिणाम हैं—जब तक इस प्रकार भेद भासित नहीं होता तब तक वह अप्रतिबुद्ध है।

सामान्यतः तत्त्व का अर्थ है—सार, ब्रह्म, आत्मा; और तत्त्वज्ञान का अर्थ है—ब्रह्मज्ञान, आत्मज्ञान। आत्मज्ञान अनुभूति का विषय है। अनुभूति के सिवाय आत्मज्ञान की उपलब्धि की अन्य कोई विधि नहीं है। अतएव 'तत्त्व' से हमारा अभिप्राय परमार्थ या द्रव्य स्वभाव से है।⁴ जिस वस्तु का जो भाव है वह तत्त्व है। वास्तव में वस्तु के असाधारण धर्म को तत्त्व कहते हैं।⁵ इसे दूसरे शब्दों में वस्तुस्वरूप भी कह सकते हैं। वस्तु का स्वरूप ही वस्तु की असलियत है, वही यथार्थ है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—“द्रव्य स्वभाव से सिद्ध सत् है—ऐसा जिनदेव ने तत्त्वतः कहा है और इसी प्रकार आगम से सिद्ध है। जो इसे नहीं मानता, वह परसमय ही है।⁶”

जैन तत्त्वज्ञान की प्रथम विशेषता यह है कि इस में तत्त्व का निर्वचन भावसामान्य के रूप में किया गया है। क्या जड़ और क्या चेतन सभी पदार्थ भाववान हैं। अभाववान कोई वस्तु नहीं है। प्रत्येक वस्तु का अपना-अपना भाव स्वतः सिद्ध है। किसी ने किसी वस्तु को उसके अपने भावरूप बनाया नहीं है। स्वभाव होने में कोई निमित्त या कारण नहीं है।

जैनदर्शन में प्रत्येक पदार्थ नित्यपरिणामी माना गया है। जिस में अनन्त गुण बसते हैं उसे वस्तु कहा जाता है। जो प्रत्येक समय में गुण-पर्यायों को प्राप्त होता है उसे द्रव्य कहते हैं। प्रत्येक द्रव्य अपने अन्वयरूप धर्म के कारण ध्रुवस्वभावी है तथा उत्पाद-व्ययरूप धर्म के कारण परिणामस्वभावी है।⁷ द्रव्य का परिणमनस्वभाव अहेतुक है। इस विशेषता के कारण ही द्रव्य की स्वतन्त्रता और द्रव्य में रहनेवाले गुणों की स्वतन्त्रता का उल्लेख जिनागम में किया जाता है। यदि गुण स्वतन्त्र न हों तो आत्मा में अनन्त चतुष्टय (अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य) तथा अनन्त गुण सिद्ध नहीं हो सकते। गुणों का समूह द्रव्य ही स्वतन्त्र नहीं माना गया है वरन् एक समय की पर्याय भी सत् व स्वतन्त्र कही गयी है। पर्याय की स्थिति एक समय मात्र है। अन्य समय में अन्य पर्याय

उत्पन्न होती है। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य से उत्पन्न होनेवाली पर्यायों क्रम से जन्म लेती हैं। एक समय पहले जो पर्याय थी वह दूसरे समय में नहीं पाई जाती। हम अपनी इन बाहरी आंखों से उन सब पर्यायों को कहां देख पाते हैं? प्रत्येक क्षण की असंख्य पर्यायों हमारी दृष्टि से ओझल रहती हैं। यद्यपि वस्तु सदा काल वही रहती है जो अपने स्वरूप से होती है किन्तु उनकी पर्याय-दशा (हालत) बदलती रहती है। किसी वस्तु की दशा बदलने में किसी अन्य वस्तु का हाथ नहीं होता। एक वस्तु दूसरी वस्तु का परिणमन नहीं कर सकती। यह जैन तत्त्वज्ञान की सबसे बड़ी विशेषता है। आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दों में—

जो जम्हि गुणं दब्बे सो अणमिह्हु दु ण संकमदि दब्बे ।

सो अणमसंकंतो किह तं परिणामए दब्बं ॥ 103, स. सा.

अर्थात्—जो वस्तु जिस द्रव्य में तथा जिस गुण में वर्तती है वह अन्य द्रव्य में व अन्य गुण में संक्रमण नहीं करती यानी बदल कर उन में नहीं मिल जाती। जब वस्तु अन्यरूप से संक्रमण नहीं करती, तब अन्य वस्तु को कैसे परिणमित करा सकती है यानी किसी दूसरी को अपने रूप बदल नहीं सकती। यह तो भारतीय परमाणुवाद में माना गया है कि प्रत्येक परमाणु में सभी मौलिक गुण विद्यमान हैं। जितने मौलिक गुण विद्यमान हैं उतने प्रकार के ही मूल परमाणु हैं।¹⁸ इतना अवश्य है कि वेदान्तदर्शन प्रत्येक परमाणु में एक गुण स्वीकार करता है, जबकि जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक परमाणु में अनन्त गुण हैं। उन सभी परमाणुओं की स्वतन्त्र सत्ता है जो पिण्ड-स्कन्धों में मूल रूप से लक्षित नहीं होते।

जैनदर्शन में कार्य-कारण का विचार तो किया गया है किन्तु परनिमित्त की अपेक्षा स्वनिमित्त या स्वभाव-साधन को ही प्रमुखता दी गई है। वहां पर-कारणों की बिल्कुल अपेक्षा की गई है। संयोग तथा विभाव-दशा में उपचार से परनिमित्तों का भी कथन किया गया है, उनका निषेध नहीं है, किन्तु स्वभाव या परमार्थ की दृष्टि से कार्यकारी न होने से उन को हेय कहा गया है। इसका इतना सूक्ष्म तथा गहन वर्णन आचार्य कुन्दकुन्द ने परम आध्यत्मिक ग्रन्थ 'प्रवचनसार' में विस्तार से किया है। वे तो यहां तक कहते हैं कि ज्ञान के द्वारा आत्मा ज्ञायक नहीं है किन्तु स्वयं ही ज्ञानरूप परिणमित होता है। इसलिए आत्मा और ज्ञान पृथक् नहीं हैं। सभी पदार्थ आत्मज्ञान में स्थित हैं।¹⁹ आत्मा में कर्तृत्व और करणरूप शक्ति भिन्न न होने से जो स्वयमेव जानता है (ज्ञायक) वही ज्ञान है। परमार्थ में आत्मा और ज्ञान में कोई भेद नहीं है। किन्तु व्यवहार से समझाने के लिए भेद किया जाता है जो वास्तविक नहीं है। दोनों की भिन्नता बताने के लिए किसी अपेक्षा से ठीक है।

यह सुनिश्चित है कि भारतीय तत्त्वचिन्तन में अर्ध्यात्म ही मुख्य है। बिना तत्त्व-ज्ञान के अर्ध्यात्म का प्रारम्भ नहीं होता। यद्यपि यूरोपीय दार्शनिक चिन्तकों में सर्वप्रथम डेकार्ट ने प्रारम्भ में सभी वस्तुओं के अस्तित्व को नकार दिया था किन्तु तुरन्त ही उसे अपनी इस भूल का पता लग गया था कि अपनी चेतना में सन्देह करना उनके लिए सम्भव

नहीं है क्योंकि सन्देह अपने आप में चेतना का एक आकार है। मैं चिन्तन करता हूँ इसलिए मैं हूँ। लाइबनिट्स के विचार में सारी सत्ता अभौतिक बिन्दुओं की है। जिन चिद्-बिन्दुओं से सारी सत्ता बनी है वे एक दूसरे को प्रभावित नहीं करते, हर एक पूर्ण रूप में स्वाधीन है। इन बिन्दुओं में कोई खिड़की नहीं है जहाँ से कोई बोध भीतर आ सके, सम्पूर्ण ज्ञान आत्मज्ञान है। जैन दृष्टि से अध्यात्म में शुद्धात्मा का अनुष्ठान है। वीतराग परमानन्द को उपलब्ध होना ही अध्यात्म का ध्येय है। वास्तव में अध्यात्म में अनिर्बन्धनीय ज्ञानानन्द का रसास्वादन किया जाता है। उस में वीतराग स्व-संवेदनज्ञान की मुख्यता रहती है। अध्यात्म में कोई मत या सम्प्रदाय नहीं होता क्योंकि सभी चेतन जीवों की चेतना सामान्य है। जैनतत्त्वज्ञान की यही विशेषता है कि इस में सामान्य ग्राहक निर्विकल्पसत्तावलोकनरूप- दर्शन का वर्णन किया गया है।

यथार्थ में निजात्मा का दर्शन ही दर्शन है, अन्य तो प्रदर्शन मात्र है क्योंकि सामान्य अवलोकनरूप-दर्शन तो मिथ्यादृष्टियों के भी होता है किन्तु उनका परद्रव्य का जानना-देखना मन और इन्द्रियों के द्वारा होता है। आगम में दर्शन के चार भेद किए हैं—चक्षु-दर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। इन चारों में आँखों से देखना चक्षुदर्शन और मन की सहायता से देखना अचक्षुदर्शन है। छद्मस्थ (अल्पज्ञानी) अवस्था में आत्मा का अवलोकन मन से होता है। आत्म-दर्शन सात प्रकृतियों के उपशम, क्षयोपशम, क्षय से तत्त्वार्थश्रद्धान रूप होने से मोक्ष का कारण है। जिन को तत्त्व की रुचि व सच्चा श्रद्धान नहीं है उन को आत्मदर्शन नहीं होता।¹⁰ आत्म-दर्शन वस्तुतः निजात्मदर्शन है जो अतीन्द्रिय अवलोकन है, जिसके दर्शन में किसी भी (मन, इन्द्रयादि) परावलम्बन की आवश्यकता नहीं होती। इसलिए अध्यात्मशास्त्र में लोक में सर्वत्र सभी से अधिक सुन्दर भगवान् शुद्ध स्वभावी चैतन्यधन प्रभु निज शुद्धात्मा की कथा ही कथा है, अन्य संयोग तथा संयोगी भावों का कथन करना विसंवाद-आपत्ति है।¹¹

तत्त्व का विषय एक त्रैकालिक ध्रुव ज्ञायकभाव पदार्थ है। ज्ञायकभाव शुद्ध है। आचार्य उमास्वामी ने इसे ही तत्त्वार्थ कहा है। तत्त्व का अर्थ है—पदार्थ का भाव और अर्थ का शब्दार्थ है—पदार्थ। भाववान पदार्थ पूर्ण विज्ञानधन परमब्रह्म है। ज्ञानस्वरूपी आत्मा में रागादि पर्यायों हैं क्योंकि ज्ञान में राग नहीं हैं और राग में ज्ञान नहीं है। दोनों भिन्न इकाइयाँ हैं। अतः तत्त्वार्थ परम चैतन्यचमत्कार मात्र ध्रुवस्वभाव ज्ञायकभाव है। विभाव पर्यायों तो आत्मा के स्वभाव हैं नहीं, पर निर्मल पर्यायों भी बहिर्तत्त्व हैं। पर्याय अन्तःतत्त्व नहीं है। इसलिए जैन तत्त्वज्ञान में पर्याय को द्रव्य से भिन्न होने के कारण उसे गौण कर दिया है। अध्यात्म शुद्धनय का विषय है। शुद्धनय का अर्थ है—शुद्ध दृष्टि, शुद्ध का अनुभव। हमारी दृष्टि तभी शुद्ध हो सकती है जब शुद्ध द्रव्य का आश्रय लें। अशुद्ध वस्तु के साथ रह कर, उसका लक्ष्य कर शुद्धता कैसे प्रकट हो सकती है? यहीं पर दृष्टि और दृष्टि का विषय हमारे सामने प्रस्तुत हो जाते हैं। शुद्धनय और उसके विषय को समझे बिना जिनप्ररूपित तत्त्वज्ञान में प्रवेश नहीं हो सकता।

यद्यपि लगभग सभी भारतीय दार्शनिकों को मुक्ति अथवा सच्चा सुख इष्ट है, किन्तु उनकी व्याख्याएँ भिन्न-भिन्न हैं। सांख्य दर्शन पुरुष के अपने स्वभाव में अवस्थित हो जाने को मोक्ष निरूपित करता है। योग-दर्शन के अनुसार क्लेश के क्षय का नाम कैवल्यबोध की प्राप्ति है। कणाद दर्शन में द्रव्य, गुण आदि छह पदार्थों के ज्ञान से मोक्ष-प्राप्ति स्वीकार की गई है। न्याय दर्शन में दुःख के अत्यन्त क्षय को मुक्ति माना गया है। मीमांसा दर्शन में आत्मज्ञान के द्वारा परमानन्द की उपलब्धि को मोक्ष कहा गया है। वेदान्तियों के अनुसार जीव अपने स्वरूप के अज्ञान के कारण दुःखी है, अविद्या के दूर होते ही जीव-ब्रह्म के एकत्वज्ञान से मुक्ति होती है। उपनिषदों में आत्मा और ब्रह्म में भेद नहीं बताया गया है। अद्वैत वेदान्त में स्वरूप के अपरोक्ष अनुभव को मोक्ष कहा गया है। मध्य-वेदान्त में मुक्तावस्था में जीव अणुपरिमाणयुक्त रहता है, ब्रह्म में उसका विलय नहीं होता। गीता के अनुसार समत्वबुद्धि से युक्त हुआ पुरुष कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार सभी क्लेश, अविद्या और कर्म-बन्धन से छुटकारे को शिव-सुख की प्राप्ति का उपाय बताते हैं, किन्तु तत्त्वज्ञान के बिना सच्चा सुख कदापि प्राप्त नहीं हो सकता।

यद्यपि आचार्य उमास्वामी ने तत्त्व सात बतलाये हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। तत्त्व तो अनन्त हैं किन्तु ये सात तत्त्व प्रयोजनभूत तत्त्व हैं। इन को बतलाने का प्रयोजन जीव-अजीव की पहचान कराना है। पहचानना तो निज शुद्धात्मा को है किन्तु अनादि काल से निज चेतन को भूला हुआ जीव परपदार्थों तथा परभावों को अपना मान कर उन में अपनत्व बुद्धि करता आया है—यही दुःख का कारण है। तत्त्वज्ञान की हमें इसलिए आवश्यकता है कि वह हम को हमारा वास्तविक स्वरूप बतलाता है। हम सिंह की भांति ज्ञानस्वभावी, निर्भय, आनन्द की मस्ती में विचरण करनेवाले हैं किन्तु सियारूपी परसंगों में निजत्व बुद्धि करके अपने आप को भूल कर अपने को सियार, दीन-हीन समझ रहे हैं। तत्त्वज्ञान इस दीन-हीन भावना को सदा के लिए दूर भगाने का अमोघ उपाय है। तत्त्वज्ञान से ही हमें अपनी भूल का पता लगता है, साथ ही विश्व के समस्त ज्ञेयों में तथा जीवादि तत्त्वों में हेय-उपादेय का ज्ञान होता है।

आगम में हेय-उपादेय दोनों प्रकार के तत्त्वों का वर्णन है किन्तु अध्यात्म में एकमात्र उपादेय आत्मभूत तत्त्व का ही वर्णन किया गया है। जिस प्रकार प्रत्येक राष्ट्र में राष्ट्रीय सरकार के आदेश से उसकी मुद्रा चलती है उसी प्रकार जिन-शासन में परमात्मा के आदेश से अध्यात्म का सिक्का चलता है क्योंकि अध्यात्म में आत्मा का ही अधिकार सर्वत्र लक्षित होता है। पण्डितश्री बनारसीदासजी के शब्दों में—“वस्तु का जो स्वभाव उसे आगम कहते हैं, आत्मा का जो अधिकार उसे अध्यात्म कहते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव न आगमी, न अध्यात्मी। क्यों? इसलिए कि कथनमात्र तो ग्रन्थपाठ के बल से आगम-अध्यात्म का स्वरूप उपदेश मात्र कहता है, आगम-अध्यात्म का स्वरूप सम्यक् प्रकार से नहीं जानता, इसलिए मूढ़ जीव न आगमी, न अध्यात्मी, निर्वेदकत्वात्।”

हम देखें कि इन दोनों में से हमारी स्थिति क्या है? कहीं तोते की भांति हम भी जैन आगम, जैन अध्यात्म का पाठ तो नहीं रट रहे हैं?

यह सच है कि अध्यात्म का ज्ञान आगमपूर्वक होता है किन्तु यह भी बिल्कुल सच है कि अध्यात्म की सही समझ आने पर ही आगम का ज्ञान सम्यक् हो सकता है। आगम का वाचन कर लेने मात्र से आगम का ज्ञान नहीं होता। अध्यात्म में समझ उसे ही कहते हैं जो हमारी बुद्धिविवेक में समाहित हो जाए। जब तक प्राथमिक भूमिका में हमारी प्रमाणभूत शुद्ध द्रव्य की दृष्टि नहीं होती तब तक समझा, न समझा बराबर ही है। जिस प्रकार अध्यात्म को समझने के लिए आगम उस भूमिका को प्रशस्त करता है जो अध्यासी के लिए आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है, उसी प्रकार अध्यात्म के बिना वीतरागता का मार्ग प्रशस्त नहीं होता, सच्ची जिनवाणी, देव-गुरु-धर्म का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट नहीं होता।

तत्त्वज्ञान की ही यह विशेषता है कि जीव पुरुषार्थ करके मोक्षमार्ग की सम्यक् प्रवृत्ति करता है। तत्त्वज्ञान के अभाव में सम्पूर्ण विश्व के सम्बन्ध में प्राप्त की गई सब तरह की जानकारियों को भी अज्ञान कहा जाता है। जैसे कोई मनुष्य सब तरह की कलाएँ जानता हो पर तैरना नहीं जानता हो तो नदी में बाढ़ से घिर जाने पर वह उस में डूब जाएगा, नदी के पार नहीं पहुँच पायेगा, उसी प्रकार आत्मज्ञानशून्य तरह-तरह के व्रत, नियम, बाहरी चरित्र यहाँ तक कि महाव्रतों का पालन भी करे किन्तु परमार्थ-दर्शन-ज्ञान से विहीन होने के कारण उसकी सभी प्रवृत्तियाँ-क्रियाएँ संसार के लिए ही निमित्त कारण कही जायेंगी, उन से परमार्थ की साधना नहीं हो सकेगी। अतएव परमार्थ-साधन में ये निष्फल कही जायेंगी किन्तु तत्त्वज्ञान से सहित होने पर उनका महत्त्व इतना बढ़ जाएगा जितना कि बिन्दी-बिन्दी (जीरो) के पहले अंक लगा देने से उनका कई गुना मूल्य बढ़ जाता है। यथार्थ में तत्त्वज्ञान की महिमा अपरम्पार है जिसका वर्णन शब्दों में करना मुझ जैसे मन्दबुद्धि के लिए अशक्य है।

आचार्य अमृतचन्द्र के शब्दों में—

रागद्वेषाविह हि भवति ज्ञानमज्ञानमावात् ।

तौ वस्तुत्वप्रणिहितदृशा दृश्यमानौ न किञ्चित् ।

सम्यग्दृष्टि, क्षपयतु ततस्तत्त्वदृष्टया स्फुटन्तौ ।

ज्ञानज्योतिर्ज्वलति सहजं येन पूर्णाचलाचिः ॥ 217 स. सा. कलश

अर्थात्—इस जगत् में ज्ञान ही अज्ञानभाव से राग-द्वेष रूप परिणमित होता है। वस्तु की एकत्व की दृष्टि से या तत्त्वदृष्टि से देखा जाये तो राग-द्वेष कोई पृथक् द्रव्य नहीं हैं। वस्तुतः अन्य द्रव्य आत्मा में राग-द्वेष उत्पन्न नहीं करा सकते क्योंकि अन्य द्रव्य में अन्य द्रव्य के गुण-पर्याय उत्पन्न नहीं हो सकते। इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्द प्रेरणा देते हैं कि सम्यग्दृष्टिसम्पन्न पुरुष, तत्त्व की दृष्टि से राग-द्वेष का क्षय करो। राग-द्वेष का क्षय होते ही पूर्ण व अचल प्रकाश से दैदीप्यमान ज्ञानज्योति प्रकाशित होती है। तत्त्वज्ञान की बड़ी भारी महिमा है। जिस पुरुष का विवेक जागृत हो गया है, जो सम्यग्दृष्टि है उसके

अज्ञान का अभाव है क्योंकि वह परभाव तथा परद्रव्य को अपना स्वरूप नहीं समझता और इसलिए उनमें स्वामित्वबुद्धि न होने से राग-द्वेष-मोह भी नहीं करता। वस्तुतः यह तत्त्व-दृष्टि की ही महिमा है जिससे सतत आत्मज्ञान की ज्योति प्रकट होती है तथा घातिया कर्मों का नाश होने से अविचल केवलज्ञान सहज ज्योति प्रकाशमान हो जाती है। यथार्थ में जो जैसा होता है वह उसी रूप से प्रकाशित होता है। तत्त्वज्ञान चेतना का सहज परिणाम है, वह सहज पूर्णव्यक्तरूप से प्रकाशित होता रहे—यही मंगल भावना है।

1. बर्ट्रेंड रसेल, द प्राव्लेम्स आव फिलासफी, आक्सफोर्ड, पुनर्मुद्रित 1974।
2. वही, पृष्ठ 5।
3. कम्मे णोकम्ममिह य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं ।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव ॥ 19, स. सा.
4. तच्चं तह परमट्ठं दव्वसहावं तहेव परमपरं ।
धेयं सुद्धं परमं एयट्ठा हुंति अभिहाणा ॥ 4, नयचक्र ।
5. “स्वं तत्त्वं स्वतत्त्वं, स्वभावो साधारणो धर्मः”, तत्त्वार्थवार्तिक, 2.1।
6. दव्वं सहावसिद्धं सदिति जिणा तच्चदो समक्खादो ।
सिद्धं तघ आगमदो रोच्छदि जो सो हि परसमओ ॥ 98, प्र. सा.
7. फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, जैन तत्त्वमीमांसा, द्वितीय संस्करण, पृ. 31।
8. दीवानचन्द्र, वेदान्त दर्शन, प्रथम संस्करण, पृ. 56, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
9. जो जाणदि सो णाणं ण हवदि णारोण जाणगो आदा ।
णाणं परिणमदि सयं अट्ठा णाणट्ठया सव्वे ॥ 35. प्र. सा.
10. परमात्मप्रकाश, 2.34 की टीका।
11. समयसार, गा. 3 की आत्मख्याति टीका।



कुन्दकुन्द-साहित्य का साहित्यिक मूल्यांकन

—डॉ० राजाराम जैन



काव्य-सौष्ठव

आचार्य कुन्दकुन्द को केवल अध्यात्मी सन्त कवि मानकर उनके विराट् व्यक्तित्व को सीमित करना उपयुक्त नहीं। वे निश्चय ही योगी सिद्ध महापुरुष तो थे ही किन्तु इसके अतिरिक्त वे एक महान् भाषाविद्, साहित्यकार एवं भारतीय संस्कृति के प्रामाणिक विद्वान् भी थे।

भाषा-वैज्ञानिकों ने उनके साहित्य की भाषा को जैन-शौरसेनी माना है। शौरसेनी (अथवा नाटकीय शौरसेनी) एवं जैन-शौरसेनी में वही अन्तर है जो वैदिक एवं लौकिक संस्कृत में, मागधी एवं अर्धमागधी प्राकृत में, महाराष्ट्री एवं जैन महाराष्ट्री प्राकृत में, अपभ्रंश एवं अवहट्ट-अपभ्रंश में तथा हिन्दी एवं हिन्दुस्तानी में अन्तर है।

यहाँ विषय-विस्तार के भय से सामान्य भाषा-भेद पर अधिक विचार न कर केवल इतनी जानकारी दे देना ही पर्याप्त है कि भाषा-वैज्ञानिकों ने प्राकृत-भाषा के तीन प्रमुख स्तर माने हैं—(1) मागधी, (2) अर्धमागधी एवं (3) शौरसेनी। कुन्दकुन्द की भाषा की मूल प्रवृत्ति शौरसेनी होने पर भी वह प्राच्य अर्धमागधी से अधिक प्रभावित है। जैनेतर संस्कृत नाटकों की शौरसेनी से कुन्दकुन्द की शौरसेनी अधिक प्राचीन है। महाकवि दण्डी के अनुसार प्राकृत (अर्थात् शौरसेनी प्राकृत) ने महाराष्ट्र-प्रदेश में प्रवेश पाने पर जो रूप धारण किया वही उत्कृष्ट महाराष्ट्री-प्राकृत के नाम से प्रसिद्ध हुई। आगे चलकर अर्धमागधी आगम साहित्य में भी उस महाराष्ट्री-प्राकृत की कुछ प्रवृत्तियों का प्रवेश हो

गया। यही नहीं, उत्तर एवं पश्चिमी भारत में जो प्राकृत-साहित्य लिखा गया उसमें भी महाराष्ट्री की कुछ प्रवृत्तियों का समावेश हो गया, इस कारण उसे जैन-महाराष्ट्री के नाम से अभिहित किया गया किन्तु यह तथ्य है कि षट्खण्डागम-साहित्य में शौरसेनी की मूल प्रवृत्तियाँ ही अधिक हैं तथा महाराष्ट्री-प्राकृत की प्रवृत्तियाँ गौणतर दिखाई देती हैं। इसे ही जैन-शौरसेनी भी कहा गया है।¹

यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि महाराष्ट्र तथा गुजरात में जब महाराष्ट्री प्राकृत की प्रवृत्तियों का पूर्ण या आंशिक रूप में प्रवेश हो गया था तब सुदूर-दक्षिण में बैठकर लिखा गया साहित्य उससे गौरूप में ही क्यों प्रभावित हो सका? इसका एक सामान्य सा उत्तर यही हो सकता है कि उस साहित्य का प्रणयन दक्षिण में महाराष्ट्री-प्राकृत के प्रभाव के पूर्व ही हो चुका था तथा आर्येतर भाषाओं के मध्य रहकर भी अपनी पूर्व-भाषा के रूप का अभ्यास करते रहने के कारण वे (कुन्दकुन्द आदि) महाराष्ट्री के प्रभाव से बहुत कुछ अंशों तक बचे रहे। इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द की भाषा जैन शौरसेनी है जिसकी कुछ मुख्य प्रवृत्तियाँ निम्न प्रकार हैं—

(1) कर्ताकारक एकवचन पुलिग में 'ओ'। यथा—

जादो < जातः	(प्र० सा० 19)
उत्पादो < उत्पादः	(प्र० सा० 18)
भणितो < भणितः	(प्र० सा० 14)

(2) त वर्गीय प्रथम एवं द्वितीय वर्णों के स्थान पर क्रमशः तृतीय एवं चतुर्थ वर्णों का पाया जाना। यथा—

भूदो < भूतः	(प्र० सा० 16)
होदि } < भवति	(प्र० सा० 16, 113)
हवदि }	
कधं < कथम्	(स० सा० 113)
तघा < तथा	(प्र० सा० 146)

अपवाद—अधिकतेजो < अधिकतेजः (प्र० सा० 19)

(3) महाराष्ट्री-प्राकृत के समान मध्य एवं अन्त्यवर्ती ककार लोप एवं अ स्वर शेष। यथा—

वेउन्विओ < वैक्रियिकः (प्र० सा० 171)

(4) महाराष्ट्री-प्राकृत के समान मध्य एवं अन्त्यवर्ती क्, ग्, च्, ज्, त्, द् का प्रायः अनियमित रूप से लोप तथा उद्वृत्त स्वर के स्थान पर 'य' श्रुति का पाया जाना तथा अनादि 'पकार' के लुप्त होने पर उद्वृत्त स्वर के स्थान पर 'व' श्रुति का पाया जाना। यथा—

य श्रुति

सयलं < सकलं	(प्र० सा० 54)
आयासं < आकाशं	(पंचास्ति० 91)
लोगं < लोकं	(प्र० सा० 35)
सायरं < सागरं	(पंचास्ति० 172)
वयणोहि < वचनैः	(पंचास्ति० 34)
भायणो < भाजनः	(भावपाहुड, 65, 69)
सुयं < श्रुतम्	(प्र० सा० 33)
हवइ < भवति	(मोक्षपाहुड, 38)
मारुयवाहा < मारुतवाघा	(भावपाहुड 121)
पयत्थो < पदार्थः	(प्र० सा० 14)
उयरे < उदरे	(भावपाहुड, 39)

व श्रुति

उब्वासो < उपवासः	(प्र० सा० 1.69)
अवधीदो < उपधीतः	(प्र० सा० 3.19)

(5) (क) प्रथमा विभक्ति में महाराष्ट्री-प्राकृत के समान 'ओ' । यथा—

सो < सः	(चा० पा० 38)
जो < यः	(चा० पा० 38)

(ख) चतुर्थी एवं षष्ठी के बहुवचन में 'सि' । यथा—

तेसिं < तेभ्यः	(प्र० सा० 82)
----------------	---------------

(न) पंचमी के एकवचन में शौरसेनी-प्राकृत के समान 'आदो' प्रत्यय । यथा—

परिणामादो < परिणामात्	(प्र० सा० 129)
महाराष्ट्री-प्राकृत के समान	
तम्हा < तस्मात्	(प्र० सा० 84)

(घ) सप्तमी में अर्धमागधी-प्राकृत के समान 'म्मि, म्हि' प्रत्यय । यथा—

दाणम्मि < दाने	(प्र० सा० 69)
एगम्हि < एकस्मिन्	(प्र० सा० 143)

(6) ✓ कृ

शौरसेनी के समान—

कुव्वदु < करोतु	(प्र० सा० 251)
करेदि < करोति	(पंचास्ति० 88)
कुणदि < करोति	(प्र० सा० 149)

महाराष्ट्री के समान—

कुणइ < करोति	(मोक्षपाहुड 42)
करेइ < करोति	(रयण० 96)

(7) (क) क्त्वा प्रत्यय के स्थान में महाराष्ट्री एवं शौरसेनी के समान 'त्ता' प्रत्यय । यथा—

वंदित्ता < वन्दित्त्वा	(बोधपाहुड 1)
------------------------	--------------

(ख) क्त्वा प्रत्यय के स्थान में 'य' । यथा

भवीय < भूत्वा	(प्र० सा० 151)
गहीय < गृहीत्वा	
किच्चा < कृत्वा	(प्र० सा० 82)

(ग) शौरसेनी एवं महाराष्ट्री के 'दूण' एवं 'ऊण' प्रत्ययों के प्रयोगों का पाया जाना । यथा—

शौरसेनी प्रयोग—सुणिदूण < श्रुत्वा	(प्र० सा० 162)
महाराष्ट्री प्रयोग—काऊण < कृत्वा	(दर्शनापाहुड 11)

अलंकार-प्रयोग

यह सत्य है कि आचार्य कुन्दकुन्द अलंकारशास्त्री नहीं थे और न वे वर्ण्य-विषय को अलंकारों की जबर्दस्त ठूस-ठांस से जटिल एवं बोझिल बनाना चाहते थे । फिर भी उनकी कृतियों में उपमा, रूपक, अप्रस्तुत प्रशंसा, उदाहरण आदि अलंकार मिलते हैं जो सहज-स्वाभाविक रूप में प्रयुक्त हैं, प्रयत्न-साध्य नहीं ।

उपमालंकार

प्रवचनसार के शुभोपयोग वर्णन-प्रसंग में देखिए उपमालंकार का कितना सुन्दर एवं स्वाभाविक प्रयोग हुआ है—

कुलिसाउह चक्कधरा सुहोवन्नोगप्पगेहि भोगेहि ।
देहादीणं विद्धि करेति सुहिदा इवाभिरदा ॥1.73॥

और भी

पुरित्तेण वि सहियाए कुसमयमूडेहि विसयसोलोहि ।
संसारे भविदव्वं अरयघरट्टं व भूदेहि ॥ 26 शी० पा०

जह सल्लिण ण लिप्पइ कमलिणिपत्तं सहावपयडीए ।
तह भावेण ए लिप्पइ कसायविसर्वेह सप्पुरिसो ॥ 153 भाव० पा०

रूपकालंकार

निम्नलिखित उद्धरणों में उपमेय में उपमान का निषेधरहित आरोप किया गया है, अतः उन में रूपकालंकार का सहज प्रयोग देखा जा सकता है—

ते धीरवीरपुरिसा खमदमखण्णोण विप्फुरंतेण ।
दुज्जयपबलबलुद्धरकसायभडण्णिज्जया जेहि ॥ 155 भाव० पा०

मायावेल्लि असेसा मोहमहातरुम्मि आरूढा ।
विसयविसपुप्फुल्लिय लुणंति मुरिण णाणसत्थेहि ॥ 157 भाव० पा०

अप्रस्तुतप्रशंसालंकार

‘गुड़मिश्रित दूध पीने पर भी सर्प विष-रहित नहीं हो सकता’ इस उक्ति के द्वारा अप्रस्तुत-प्रशंसा का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है । यथा—

ए मुयइ पयडि अमव्वो सुट्ठुवि आयण्णिरूण जिणधम्मं ।
गुडसुद्धं पि पिवंता ए पण्णया णिव्विसा होति ॥ 137 भा० पा०

उदाहरणालंकार

कुन्दकुन्द साहित्य में उदाहरणालंकारों की छटा तो प्रायः सर्वत्र बिखरी हुई है । कुन्दकुन्द ने बालावबोध के लिए लौकिक उपमानों एवं उपमेयों के माध्यम से अपने मिद्धान्तों को पुष्ट करने का प्रयास किया है । उनके ये उपमान उपमेय परम्परागत न होकर प्रायः सर्वथा नवीन हैं । नई-नई उद्भावनाओं के द्वारा उन्होंने उदाहरणों की भड़ी सी लगा दी है । समयसार के पुण्य-पापाधिकार में पुण्य-पाप की प्रवृत्ति को समझाने के लिए उन्होंने कितना सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है—

सोवण्णियं पि णियलं बंधदि कालायसं च जह पुरिसं ।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कवं कम्मं ॥146॥

अर्थात् जिस प्रकार लोहे की बेड़ी हो या सोने की बेड़ी दोनों ही पुरुष को बाँधती है उसी प्रकार किया गया शुभ-अशुभ कर्म भी जीव को बाँधता ही है ।

इसी प्रकार कर्मभाव के पककर गिरने के लिए पके हुए फल के गिरने का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया गया है—

पक्के फलम्मि पडिए जह ए फलं बज्झए पुणो विंटे ।
जीवस्स कम्मभावे पडिए ए पुणोदयमुवेइ ॥ 168 स० सा०

अर्थात् जिस प्रकार कोई फल पककर जब गिर जाता है तब वह पुनः बौड़ी के साथ नहीं बैँघ सकता। उसी प्रकार जब जीव का कर्मभाव पककर गिर जाता है तब वह पुनः उदय को प्राप्त नहीं होता।

कूट-पद-प्रयोग

कूट-पदों के प्रयोग कुन्दकुन्द साहित्य में प्रचुरता से नहीं मिलते। क्वचित्-कदाचित् ही मिलते हैं। वस्तुतः इस प्रकार की रचनाएँ जिनके कि शब्दों के साथ साधारण अर्थ भी रहते हैं फिर भी सरलता से उनका भाव समझने में कठिनाई होती है और जिनका अर्थ शब्दों की भूल-भुलैया में प्रच्छन्न रहता है, वे कूट-पद कहलाते हैं। कुन्दकुन्द साहित्य में भी कहीं-कहीं इस प्रकार के कुछ कूट-पद उपलब्ध हैं। उदाहरणार्थ—

तिहि तिण्ण धरवि णिच्चं तियरहिओ तह तिएण परियरियो ।

दोदोसविप्पमुक्को परमण्णा भायए जोई ॥ 44 सो० पा०

अर्थात् तीन (मन, वचन एवं काय) के द्वारा तीन (वर्षाकाल योग, शीतकाल योग और उष्णकाल योग) को धारण कर निरन्तर तीन (माया, मिथ्यात्व एवं निदान रूप शक्तियों) से रहित तीन (सम्यग्दर्शन आदि तीन रत्नों) से युक्त और दो दोषों (राग एवं द्वेष) से रहित योगी परमात्मा अर्थात् सिद्ध के समान उत्कृष्ट आत्मस्वरूप का ध्यान करता है। (इस पद्य का अर्थ विषय का विशेष जानकार ही समझ सकता है, सामान्य बुद्धिवाला व्यक्ति नहीं। इस प्रकार के पद्य कूट-पद-छन्द-योजना कहलाते हैं।)

छन्द-योजना

जिस प्रकार संस्कृत में आर्या छन्द एवं अपभ्रंश का दूहा छन्द प्रसिद्ध है उसी प्रकार प्राकृत का गाथा छन्द प्रसिद्ध है। ये तीनों छन्द सरल, सरस एवं गेय तथा द्विपदी होने के कारण कण्ठस्थ कर लेने में सुविधाजनक होने से प्रारम्भ से ही लोकप्रिय रहे हैं।

कुन्दकुन्द-साहित्य का प्रमुख छन्द गाथा है। प्राभृत साहित्य विशेषतया भावप्राभृत, मोक्षप्राभृत एवं समयप्राभृत तथा नियमसार में अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग भी प्रचुर मात्रा में मिलता है। भाषा की सरलता, लौकिक उदाहरण के कारण सहज बोधगम्य तथा गेयता की दृष्टि से निम्न गाथा द्रष्टव्य है—

जह पउमरायररणं खित्तं खीरं पभासयदि खीरं ।

तह देही देहत्यो सवेहमत्तं पभासयदि ॥ 33 पंचास्ति०

अर्थात् जिस प्रकार दूध में पड़ा हुआ पदमरागमणि सम्पूर्ण दूध को प्रभासित कर देता है उसी प्रकार शरीर में स्थित आत्मा समस्त शरीर को प्रभासित कर लेता है।

अनुष्टुप

जो दु पुण्यं च पावं च, भावं वज्जेदि णिच्चसा ।

तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे ॥ 130 नि० सा०

इस प्रकार यहाँ आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाओं के साहित्यिक मूल्यांकन का एक लघु प्रयत्न किया गया । वस्तुतः कुन्दकुन्द की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी अतः उनके दार्शनिक मूल्यांकन के साथ-साथ जब तक साहित्यिक एवं सांस्कृतिक मूल्यांकन नहीं किया जायेगा तब तक उनके विराट् देदीप्यमान व्यक्तित्व को समझने में कठिनाई होगी ।

1. भा. सं. में जैन. का योगदान, डॉ० हीरालाल जैन, पृ० 77 ।



सम्यक्त्व

सम्मत्तरयणभट्टा जाणता बहुविहाइं सत्थाइं ।
आराहणाविरहिया भमंति तत्थेव तत्थेव ॥ 4 ॥

— जो व्यक्ति सम्यक्त्वरूपी रत्न (समताभाव) से वंचित हैं वे बहुत प्रकार के शास्त्रों को जानते हुए भी आराधना से रहित होने के कारण वहाँ ही वहाँ ही (संसार में) भ्रमण करते रहते हैं ।

सम्मत्तसलिलपवहो णिच्चं हियए पवट्टए जस्स ।
कम्मं बालुयवरणं बंधुच्चिय णासए तस्स ॥ 7 ॥

— जिसके हृदय में सम्यक्त्वरूपी जल का प्रवाह नित्य विद्यमान होता है उसका कर्मरूपी बंधन बालू के ढेर की तरह निश्चय ही नष्ट हो जाता है ।

दर्शनपाहुड

आचार्य कुन्दकुन्द की ग्रन्थत्रयी के टीकाकार

—डॉ० शुद्धात्मप्रभा



जिन-अध्यात्म के प्रकाण्ड विद्वान् आचार्य कुन्दकुन्द जिन-आचार्य-परम्परा में सर्वोपरि हैं। जैन-समाज में आप आज भी भगवान् महावीर और गौतम गणधर के पश्चात् समस्त आचार्य-परम्परा में नामोल्लेखपूर्वक स्मरण किये जाते हैं।

आप द्वितीय श्रुतस्कंध के रचनाकार हैं। इससे पूर्व समस्त आचार एवं विचार संबंधी परम्पराएँ श्रुत-परम्परा से चली आ रही थीं। किन्तु श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय में हुए द्वादश-वर्षीय दुर्भिक्ष के कारण आचार-संबंधी परम्पराओं में शिथिलता का प्रादुर्भाव होने लगा। धीरे-धीरे आचरण-संबंधी भेद के साथ-साथ उनमें वैचारिक भेद भी प्रारंभ होने लगा।

आचार्य कुन्दकुन्द के समय में आचार-संबंधी शिथिलता में पर्याप्त वृद्धि हो चुकी थी। आहार-विहारादि क्रियाओं में कोई मर्यादा नहीं रह गई थी। धार्मिक दृढ़ता का अभाव होने लगा था और वैचारिक भेद भी प्रारंभ हो गया था। यह आचार-विचार संबंधी शिथिलता ही संघभेद का कारण थी जो कि धीरे-धीरे मत का रूप लेने लगी थी। अतः ईसा पूर्व प्रथम शती में इस बात की आवश्यकता महसूस होने लगी कि श्रुतकेवली भद्रबाहु की मूल आचार-विचार-परम्परा को कायम रखने के लिए उसे लिपिबद्ध किया जाए। तत्कालीन परिस्थिति को देखकर आचार्य कुन्दकुन्द ने न केवल सिद्धान्तों को ही अपितु मुनि-आचार में आनेवाली शिथिलता का भी प्रत्येक दृष्टिकोण से विचारकर स्त्री-मुक्ति आदि विचारों का दृढ़ता से निषेध किया।

आचार्य कुन्दकुन्द का मूल प्रतिपाद्य जैन-दर्शन में प्रतिपादित वस्तुव्यवस्था एवं मुक्ति का मार्ग रहा है। वस्तुव्यवस्था का प्रतिपादन उन्होंने द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों के माध्यम से किया है और मुक्ति के मार्ग का निरूपण निश्चय-व्यवहार नयों के माध्यम से।

‘समयसार’ कुन्दकुन्द की एक ऐसी श्रेष्ठ रचना है जो विगत दो हजार वर्षों से जैनसन्तों का मार्गदर्शन करती आ रही है। इसमें शुद्ध नय से नव तत्त्वों का प्रतिपादन है।

‘प्रवचनसार’ कुन्दकुन्द की दूसरी प्रौढ़तम रचना है जिसमें जैन-दर्शन में प्रतिपादित वस्तु-स्वरूप का सशक्त प्रतिपादन है।

‘पंचास्तिकाय संग्रह’ कुन्दकुन्द की जनसाधारण को तत्त्वज्ञान कराने के लिए अत्यन्त उपयोगी कृति है। इसमें सरल और सुबोध भाषा में षट्द्रव्य, पंचास्तिकाय, नवपदार्थों एवं रत्नत्रयरूप मुक्तिमार्ग का प्रतिपादन है।

आचार्य कुन्दकुन्द के गंभीरतम ग्रन्थराज समयसार, प्रवचनसार एवं पंचास्तिकाय संग्रह पर आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्मख्याति, तत्त्वदीपिका और समयव्याख्या नामक सशक्त टीकाएँ लिखी हैं, जो आज इन पर उपलब्ध समस्त टीकाग्रन्थों में सर्वाधिक प्रचलित एवं श्रेष्ठ हैं।

अमृतचन्द्रजी जैसे समर्थ आचार्य की सशक्त टीकाओं के होते हुए भी आचार्य कुन्दकुन्द के इन्हीं ग्रंथों पर सरल-सुबोध टीकाएँ लिखकर आचार्य जयसेन ने अद्भुत साहस का परिचय दिया है।

अमृतचन्द्रीय टीकाएँ पद्यमिश्रित गद्य में हैं। जयसेनीय टीकाएँ नामोल्लेखपूर्वक गुणस्थान परिपाटी से की गई पदखण्डान्वयी टीकाएँ हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र की टीकाओं में भावों की गम्भीरता के साथ-साथ उनको वहन करने में समर्थ भाषा के जिस प्रौढ़तम रूप के दर्शन होते हैं जयसेन की टीकाओं में वह प्रौढ़ता दिखाई नहीं देती। जयसेनीय टीकाओं की भाषिक विशेषता सहज बोधगम्यता है। अमृतचन्द्र की टीकाएँ अन्य टीकाओं की अपेक्षा रखती हैं जबकि जयसेन की टीकाओं को अन्य टीकाओं की आवश्यकता नहीं है। यही कारण है कि जयसेन की टीकाओं की भाषाटीकाएँ न के बराबर हैं।

अमृतचन्द्र मूलग्रन्थकर्ता के भावों को हृदयंगम कर उसे इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं जैसे स्वतंत्र ग्रन्थ लिख रहे हों जबकि जयसेन अन्वयार्थ, भावार्थ, तात्पर्यार्थ आदि बातें मूलानुसार बताते चलते हैं। यही कारण है कि अमृतचन्द्र टीकाकार होते हुए भी स्वयं ग्रन्थ-प्रणेता से प्रतीत होते हैं पर जयसेन विशुद्ध टीकाकार ही हैं।

नयों का उल्लेख अमृतचन्द्र बहुत कम करते हैं। यदि करते भी हैं तो निश्चय-व्यवहार या द्रव्याधिक-पर्यायाधिक तक ही सीमित रहते हैं पर जयसेन निश्चय-व्यवहार और द्रव्याधिक-पर्यायाधिक के भेद-प्रभेदों के विस्तार में भी जाते हैं।

आचार्य जयसेन प्रत्येक गाथा के पूर्व उत्थानिका देते हैं पर आचार्य अमृतचन्द्र इस नियम से बँधे नहीं हैं। विषयवस्तु की महत्ता एवं आवश्यकतानुसार कभी वे कलश-काव्य में ही उत्तर गाथा की भूमिका बाँधते हैं, तो कहीं जयसेन के समान ही गद्य में देते हैं, तो कहीं बिना दिये ही आगे बढ़ जाते हैं।

आचार्य जयसेन ने अपनी टीका के प्रारंभ में कहा है कि 'पंचास्तिकाय-संग्रह' संक्षिप्त रुचिव ले शिष्यों के प्रतिबोधन के लिए, 'प्रवचनसार' मध्यम रुचिवाले शिष्यों के प्रतिबोधन के लिए और 'समयसार' को विस्तृत रुचिवाले शिष्यों के प्रतिबोधन के लिए लिखा है पर अमृतचन्द्र ने इस प्रकार का कोई विभाजन नहीं किया है।

जयसेन की टीकाएँ अमृतचन्द्रीय टीकाओं की पूरक हैं। जहाँ अमृतचन्द्र ने बात विस्तार से स्पष्ट कर दी है वहाँ जयसेन संक्षिप्त टीका करते हैं¹ और जहाँ अमृतचन्द्र संक्षिप्त टीका करते हैं वहाँ वे विस्तार करते दिखाई देते हैं।²

आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा प्रदत्त उदाहरण तो जयसेन की टीका में मिलते ही हैं पर अनेक अतिरिक्त उदाहरण भी उन्होंने दिये हैं। ऐसे स्थलों पर अमृतचन्द्र द्वारा दिये गये उदाहरणों को जयसेन ने संक्षेप में दिया है।

जयसेन अमृतचन्द्र की टीकाओं से पूर्णतः उपकृत जान पड़ते हैं क्योंकि वे उनके प्रतिपादन को सर्वत्र ससम्मान स्वीकार करते प्रतीत होते हैं पर जहाँ उन्हें कुछ नया कहना होता है तो वे अमृतचन्द्र की बात को आगे रखकर विनम्रता से अपनी बात भी खुलकर रखते हैं।³

आचार्य जयसेन की टीकाओं में कुछ गाथाएँ ऐसी भी हैं जो अमृतचन्द्रीय टीकाओं में नहीं पाई जाती हैं। गाथा-संख्या की इस भिन्नता का उल्लेख (अमृतचन्द्रीय टीकाओं में अनुपलब्ध गाथाओं का स्पष्ट उल्लेख) आपने यथास्थान किया है।⁴

अमृतचन्द्र कृत टीका में अनुपलब्ध गाथाओं की टीका जयसेन ने अत्यन्त संक्षेप में की है। कहीं-कहीं तो पदखण्डान्वय भी नहीं दिया गया, मात्र भावार्थ ही दिया है। इससे प्रतीत होता है कि ये गाथाएँ महत्त्वपूर्णा नहीं हैं एवं उनकी अनुपस्थिति से ग्रन्थ की विषयवस्तु में कुछ उल्लेखनीय अन्तर नहीं पड़ता है।

अधिकारों के विभाजन एवं उनके नामकरण के बारे में भी आचार्य जयसेन ने अपना मौलिक चिन्तन प्रस्तुत किया है, साथ ही आचार्य अमृतचन्द्र का मत भी दे दिया है।

इसी प्रकार सभी जगह अमृतचन्द्र कृत टीकाओं की समस्त बातों को स्वीकार करते

हुए जयसेन ने नवीन प्रमेय प्रस्तुत करने में कोई संकोच नहीं किया है अपितु उनको सहेतुक प्रतिपादित किया है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि मूलग्रन्थकर्ता के विषय को आचार्य अमृतचन्द्र ने क्रमबद्ध एवं प्रवाहशील बनाया है तो जयसेन ने प्रत्येक पद की व्याख्या कर उसे सुपाठ्य और सुग्राह्य बनाया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अमृतचन्द्र तो मौलिक विचारक, स्वतंत्र चिंतक और आत्मानुभवी थे ही पर जयसेन भी उनसे कम आत्मार्थी व प्रतिभाशाली नहीं थे। उन्होंने उन सभी तथ्यों को यथास्थान देने का प्रयास किया है जो कि अमृतचन्द्र की लेखनी से अछूते रहे थे। आपने न केवल टीका ही की है अपितु पूर्वापर विरोध का स्पष्टीकरण भी यथास्थान प्रस्तुत किया है। जो शंकाएँ प्रबुद्ध पाठकों के मस्तिष्क में सहज प्रस्फुटित होती थीं उनका सरल-सहज समाधान किया है। इस प्रकार जयसेन की टीकाएँ अमृतचन्द्र की टीकाओं का अनुसरण करती हुई भी मौलिकता लिये हुए हैं।

यद्यपि सरल-सुबोध होने पर भी आचार्य जयसेन की टीकाओं को वह महत्त्व और प्रश्रय नहीं मिला जो कि आचार्य अमृतचन्द्र की टीकाओं को मिला। इसका एकमात्र कारण यही है कि अमृतचन्द्र की टीका गंभीर होने से अनेक विद्वानों द्वारा हिन्दी टीका में रूपान्तरित हो गई, किन्तु जयसेन की टीका संस्कृतविज्ञों को सुगत होने से हिन्दी अनुवाद से वंचित रही। अतः वे अमृतचन्द्र की टीकाओं के समान प्रचार-प्रसार में न आ सकी।

जहाँ एक ओर जयसेन की सरलता ही उनके रूप चलन का कारण बनी, वहाँ वही सरलता उनकी सुरक्षा का सबसे बड़ा कवच रही। यदि आचार्य जयसेन अमृतचन्द्र जैसी ही प्रौढ़ टीकाएँ लिखते तो वे अमृतचन्द्र की टीकाओं के सामने टिक न पाने के कारण संभवतः कालकवलित हो जातीं। अतः जयसेन ने सरल, सुबोध भाषा में टीकाएँ लिखकर बहुत बड़ी बुद्धिमानी का काम तो किया ही है, एक कमी की पूर्ति भी की है।

आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा बोये गये जिन-अध्यात्म के बीज को अंकुरित, पुष्पित और फलित करने का श्रेय आचार्य अमृतचन्द्र को ही है। कुन्दकुन्द को जन-जन की वस्तु बनाने में अमृतचन्द्रीय टीकाओं ने सेतु का काम किया है।

आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य अमृतचन्द्र एवं आचार्य जयसेन जिन-अध्यात्म के क्रमशः सूर्य, चन्द्रमा और तारे हैं जो अध्यात्मप्रेमियों का सदैव मार्गदर्शन करते रहेंगे।

1. (अ) समयसार गाथा 12 की टीका, 13 की टीका।
(ब) समयसार गाथा 356 से 365 तक की टीका।
2. समयसार गाथा 15 व 26 की टीका।
3. तात्पर्यवृत्ति, समयसार गाथा 131 की टीका।
4. तात्पर्यवृत्ति, पंचास्तिकाय संग्रह गाथा 2 की टीका के बाद।

कुन्दकुन्द का वस्तु-स्वातन्त्र्य-सिद्धान्त

—राजकुमार छाबड़ा

□

कुन्दकुन्द का मुख्य प्रतिपाद्य विषय जीव द्रव्य है। मैं (आत्मा) क्या हूँ ? मैं संसारी क्यों बना हुआ हूँ, और मुक्त कैसे हो सकता हूँ ? कुन्दकुन्द के सामने ये मुख्य प्रश्न हैं। पर से विभक्त और स्व से एकत्व को प्राप्त प्रत्येक वस्तु लोक में सुन्दर है, इनकी बंधरूप अवस्था ही विसंवाद या विरोध का कारण होती है।¹ यह बंधरूप अवस्था जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों में पाई जाती है। पुद्गल अचेतन है। उसका स्वभाव ही मिलना और विच्छुड़ना होने से पुद्गल की बंध अवस्था से कोई मूल्यमीमांसीय समस्या या आत्मा के लिए कोई समस्या उत्पन्न नहीं होती लेकिन आत्मा का कर्मपुद्गलों से बंध को प्राप्त होना एक समस्या है। बंध का अर्थ यह नहीं है कि वे द्रव्य मिलकर एक हो जाते हैं या ये मिलकर एक क्रिया करते हैं। जीव और पुद्गल में बंध का अर्थ है इनका एक क्षेत्राव-गाही होकर परस्पर एक-दूसरे के परिणामों को निमित्त करके परिणामन करना।² इस अवस्था में जीव कर्मों के उदय होने पर अपने स्वभाव से विमुख होकर मोह, राग और द्वेष रूप विकारी भावों को प्राप्त करता है तथा इसी प्रकार जीव के विकारी भावों को निमित्त करके पुद्गल कर्मणवर्गणाएँ ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्मरूप परिणत होकर जीव के साथ अवगाहन को प्राप्त हो जाती हैं। इस बंध का मूल कारण आत्मा का मिथ्यात्वी (मिथ्यात्व = अज्ञानभाव) होना है। यदि आत्मा सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर ले तो फिर वह क्रम से विकारी भावों और कर्मों के इस निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को तोड़ता हुआ मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। कुन्दकुन्द के अनुसार जीव के मिथ्यात्वी होने का मूल कारण एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का, जैसे—जीव को कर्म का एवं कर्म को जीव का,

कर्ता स्वीकार करना है। कर्ता-कर्म सम्बन्ध एक द्रव्य का अपनी पर्यायों के साथ होता है। कुन्दकुन्द के अनुसार इस समझ का होना सम्यग्दर्शन के लिए अनिवार्य है।³ भेदज्ञान का अर्थ मात्र यह नहीं है कि जीव और अजीव दो भिन्न द्रव्य हैं, इसका अर्थ यह भी है कि उनके परिणाम परस्पर 'स्वतन्त्र' हैं। 'स्वतन्त्रता' से तात्पर्य यह है कि दो द्रव्यों में कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है, मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। इस अवधारणा को समझने के लिए इन प्रश्नों पर विचार करना आवश्यक है—(1) एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य के परिणाम का कर्ता क्यों नहीं स्वीकार किया जा सकता, तथा (2) इस कथन का क्या अर्थ है कि एक द्रव्य का परिणाम दूसरे द्रव्य के परिणाम का निमित्त होता है? इन प्रश्नों का उत्तर देना दो द्रव्यों के परिणामों की पृथक्ता और सम्बन्ध को समझने के लिए आवश्यक है।

एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्ता निम्नलिखित कारणों से स्वीकार नहीं किया जा सकता—

1. प्रत्येक द्रव्य परिणामस्वभावी है अतः कोई द्रव्य दूसरे द्रव्य को परिणामित नहीं करता, अन्य के परिणाम को उत्पन्न नहीं करता। यदि पुद्गल द्रव्य स्वयं कर्मभाव-रूप से परिणत न हो और जीव स्वयं क्रोधादि रूप से परिणत न हो तो अपरिणामी होने से इनके द्रव्यत्व का लोप हो जायगा, या विकारी भाव और कर्मबन्ध के अभाव में संसार का लोप हो जायगा। यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को परिणामाता है तो अपरिणामी को परिणामाता है या परिणामी को? जो शक्ति स्वयं में नहीं है उसे दूसरा उत्पन्न नहीं कर सकता अतः प्रथम विकल्प असंभव है, और द्वितीय विकल्प में, द्रव्य स्वयं परिणामी होने से, उसे दूसरा परिणामाता है—ऐसा कहने का कोई अर्थ ही नहीं है।⁴
- 2- जिनमें व्याप्य-व्यापक भाव होता है उनमें ही कर्ता-कर्म-भाव पाया जाता है। द्रव्य व्यापक होता है और उसका परिणाम व्याप्य है। अतः एक द्रव्य का अपने परिणाम के साथ ही कर्ता-कर्म-भाव होता है, अन्य द्रव्य के परिणाम के साथ नहीं।⁵
- 3 यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के परिणाम को करे तो एक द्रव्य अन्य द्रव्यमय हो जाय (क्योंकि परिणाम एवं परिणामी में अनन्यता होती है), परन्तु एक द्रव्य अन्य द्रव्यमय कभी नहीं होता, अतः एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता भी नहीं होता।⁶
4. जो जिस द्रव्य या गुण में रहता है वह अन्य में संक्रमण को प्राप्त नहीं हो सकता और ऐसा नहीं होने से, एक वस्तु अन्य को परिणामा नहीं सकती।⁷
5. यदि एक द्रव्य अन्य द्रव्य का कर्ता हो तो उसने स्व और पर इन दो परिणामों

को किया परन्तु यह 'दो क्रियावाद' मिथ्यात्व होने से स्वीकार नहीं किया जा सकता ।⁸

6. यदि जीव और पुद्गल दोनों मिलकर एक कार्य को करें तो दोनों के ही या तो रागादिरूपभाव होने चाहिए या दोनों की ही कर्मरूप अवस्था होनी चाहिए परन्तु रागादिरूपभाव तो जीव के ही होते हैं और कर्म-अवस्था पुद्गल द्रव्य की होती है । अतः सिद्ध होता है कि प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने परिणाम का कर्ता है ।⁹

यहाँ यह शंका उत्पन्न होती है कि यदि जीव अपने ही भावों का कर्ता हो और पुद्गल कर्म भी अपने ही परिणामों के कर्ता हों तो जिन कर्मों को आत्मा ने नहीं किया वे आत्मा को फल क्यों दें तथा आत्मा उस फल को क्यों भोगे ? अथवा अन्यकृतकर्म के फल को अन्य ने भोगा—ऐसा मानना पड़ेगा ।¹⁰ कुन्दकुन्द इसका निम्न प्रकार से समाधान करते हैं—

1. यह लोक सर्वत्र विविध प्रकार के अनंतानंत, सूक्ष्म एवं स्थूल, कर्मत्व के योग्य एवं कर्मत्व के अयोग्य, पुद्गल स्कन्धों से गाढ़ा भरा हुआ है ।¹¹
2. अतः जैसे ही यह जीव कोई विकारी भाव करता है (जो कि स्निग्ध भाव है), उस क्षेत्र में स्थित कर्मत्व के योग्य पुद्गल स्कन्ध तत्काल ही उस विकारी भाव को निमित्त करके (उसका आश्रय करके) कर्मरूप में स्वयमेव ही (बिना जीव के परिणामाएँ) परिणत हो जाते हैं ।¹² इसी प्रकार जब कर्म का उदय नवीन कर्मबंध को करता है तो उसका निमित्त पाकर तत्काल ही जीव विकार भाव को प्राप्त हो जाता है ।¹³
3. जिस प्रकार योग्य बाह्य परिस्थिति के होने पर बादल आदि अनेक प्रकार के पुद्गल स्कन्ध स्वयं (बिना अन्य कर्ता की अपेक्षा किये) उत्पन्न हो जाते हैं उसी प्रकार जीव-परिणाम को निमित्त करके पुद्गल स्वयं कर्मरूप परिणत हो जाते हैं ।¹⁴
4. जब बंधन को प्राप्त ये कर्म अपनी स्थिति पूर्ण करके उदय को प्राप्त होते हैं अर्थात् आत्मा से पृथक् होते हैं तो पुनः आत्मा अनेक प्रकार के भावों को प्राप्त करता है और नवीन कर्मबंध हो जाता है ।¹⁵
5. इस प्रकार पुद्गल जीव के परिणाम के निमित्त से कर्मरूप में परिणमित होते हैं और जीव भी पुद्गल कर्म के निमित्त से परिणामन करता है । दोनों एक-दूसरे में कोई गुण (अतिशय) उत्पन्न नहीं करते, परन्तु परस्पर निमित्त से उनके परिणाम होते हैं । अतः आत्मा अपने ही भावों का कर्ता है, पुद्गलकर्म द्वारा किये गये भावों का नहीं, (उनका कर्ता पुद्गल कर्म ही है) ।¹⁶

अतः यह कहा जा सकता है कि जीव और पुद्गलकर्म में कर्ता-कर्म-भाव स्वीकार किये बिना भी कर्मबंध और कर्म-फल-सिद्धान्त की व्याख्या की जा सकती है ।

प्रत्येक द्रव्य अपने ही भावों का कर्ता है । अतः निश्चयनय से आत्मा अपने भावों का कर्ता है और पुद्गलकर्म अपने भावों का कर्ता है । परन्तु एक द्रव्य का परिणाम अन्य द्रव्य के परिणाम में निमित्त होने से व्यवहारनय से यह कहा जाता है कि आत्मा ने पुद्गलकर्म को किया या पुद्गलकर्म ने आत्मभावों को किया ।¹⁷ व्यवहारनय का तात्पर्य यहाँ उपचार से है । कुन्दकुन्द का कथन है—‘जीव के निमित्त-भूत होने पर कर्मबंध का परिणाम होता हुआ देखकर ‘जीव ने कर्म किया’ ऐसा उपचार-मात्र से कहा जाता है ।¹⁸ जीव और पुद्गल दोनों द्रव्य (तथा प्रत्येक द्रव्य) निरन्तर परिणामित हो रहे हैं । उनके परिणामों में समान्तरता है जिसके आधार पर हम जानते हैं कि इस प्रकार का जीव-भाव होने पर इस प्रकार का पुद्गल-भाव होता है । जब एक द्रव्य के परिणामविशेष की अन्य द्रव्य के परिणामविशेष के साथ पाये जानेवाले अविनाभाव सम्बन्ध का हमें निर्णय होता है तो उसके आधार पर एक द्रव्य को अन्य द्रव्य के परिणाम का कर्ता उपचार से कहा जाता है । उपचरित कथन भी ज्ञान के साधन होते हैं, यदि उनसे इंगित होनेवाले मुख्यार्थ का ग्रहण कर लिया जाय । लेकिन यदि उपचार को ही सत्यार्थ मान लिया जाय तो उससे भ्रम ही होगा । जैसे—‘जीव ने कर्म को किया’—इस उपचरित कथन का मुख्यार्थ यह है—‘उस समय जीव ने विकार भाव किया और जैसा विकार भाव हुआ वैसा ही कर्मबंधन हुआ परन्तु उस कर्मरूप अवस्था को कार्मणवर्गणाओं ने स्वयं उत्पन्न किया ।’

निमित्त के प्रत्यय को समझने के लिए यहाँ हमें समयसार गाथा-100 और उस पर अमृतचन्द्र द्वारा रचित टीका पर ध्यान देना चाहिए । (1) एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का व्याप्य-व्यापक भाव से कर्ता नहीं है, अन्यथा इनमें तन्मयता प्राप्त हो जायगी । (2) एक द्रव्य अपने सामान्य स्वभाव से अन्य का निमित्त भी नहीं है, अन्यथा नित्यनिमित्तत्व का प्रसंग प्राप्त होगा । (3) प्रत्येक द्रव्य अपने परिणाम का कर्ता है जिसका निमित्त पाकर अन्य द्रव्य परिणामित हो जाते हैं । जैसे - कुम्हार वस्तुतः अपने योग और उपयोग को करता है जो कि मिट्टी के घटरूप परिणाम में अनुकूल होने से उस समय मिट्टी घटरूप परिणामित हो जाती है ।¹⁹

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या द्रव्य अपने परिणाम के लिए निमित्त की अपेक्षा करता है ? ऐसा नहीं माना जा सकता क्योंकि -- (1) प्रत्येक द्रव्य परिणाम-स्वभावी है, अतः बिना परिणामित हुए वह रह नहीं सकता, (2) निमित्त अन्य द्रव्य में कोई अतिशय उत्पन्न नहीं करता, तथा (3) इस कथन का कि प्रत्येक द्रव्य स्वयमेव परिणामित होता है—यही अर्थ हो सकता है कि प्रत्येक द्रव्य अपनी योग्यता से, अपने उपादान कारण के अनुसार परिणामित होता है । उपादान कारण का उत्तरवर्ती जैन दार्शनिकों ने यह लक्षण दिया है कि पूर्व पर्याययुक्त द्रव्य अपनी उत्तर पर्याय का उपादान कारण होता है । पूर्व पर्याय में जिस प्रकार की योग्यता होती है उसी प्रकार की उत्तर-

पर्याय द्रव्य में उत्पन्न होती है क्योंकि कार्य का वास्तविक नियामक द्रव्य ही होता है। अतः अमृतचन्द्र का कथन है कि जीव और अजीव द्रव्यों में नियमित क्रम से परिणाम उत्पन्न होते हैं।²⁰ स्वयं कुन्दकुन्द का कथन है कि—‘अन्य द्रव्य से अन्य द्रव्य के गुण की उत्पत्ति नहीं की जा सकती, इससे सब द्रव्य अपने-अपने स्वभाव से उत्पन्न होते हैं।’²¹ इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कुन्दकुन्द के वस्तुस्वातन्त्र्य के सिद्धान्त के तीन निष्कर्ष निकलते हैं—

- (1) समान्तरवाद,
- (2) क्रमनियमितपरिणामवाद,
- (3) स्वभाववाद।

कुन्दकुन्द बहुत स्पष्ट हैं और उनके कर्ता-कर्म-संबंधी सूत्रों की मनमरजी से व्याख्या नहीं की जा सकती। क्रिया-प्रतिक्रियावाद में कुन्दकुन्द द्रव्य की हानि देखते हैं। जहाँ एक द्रव्य है वहीं शेष सभी द्रव्य भी मौजूद हैं, परन्तु कोई अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता। यह प्रत्येक द्रव्य की स्वतन्त्रता का उद्घोष है।²² प्रत्येक द्रव्य अपने स्वभाव या योग्यता के अनुसार परिणामन करता है। प्रत्येक द्रव्य की यह स्वतन्त्रता द्रव्यों के परिणामविशेषों में कुछ व्याप्ति संबंधों को उत्पन्न कर देती है जिसके कारण एक द्रव्य के परिणाम को देखकर अन्य द्रव्य में हो रहे परिणाम का अनुमान किया जा सकता है। यही एक द्रव्य के परिणाम को अन्य द्रव्य के परिणाम के प्रति निमित्त कहने का रहस्य है। अतः समान्तरवाद वस्तुस्वातन्त्र्य के सिद्धान्त का तार्किक प्रतिफल है।

स्वभाववाद का उल्लेख तो कुन्दकुन्द स्वयं समयसार गाथा 372 में करते हैं। अतः प्रश्न रहता है कि क्या क्रमनियमितपरिणामवाद भी तर्कतः वस्तुस्वातन्त्र्य से फलित होता है जिसका प्रतिपादन अमृतचन्द्र समयसार 308-11 की टीका में करते हैं। कुन्दकुन्द उपादान कारण की अवधारणा का उपयोग नहीं करते, अन्यथा इस बात को आसानी से कहा जा सकता था। फिर भी, कर्ता-कर्म-संबंध, जिसकी व्याख्या वे करते हैं, के आधार पर भी इस निष्कर्ष को प्राप्त किया जा सकता है।

पर्यायें क्रमवर्ती होती हैं। परन्तु ये पर्यायें यद्वा-तद्वा रूप से द्रव्य में घटित नहीं हो सकती। ऐसी मान्यता यह्च्छावाद है जो कि कुन्दकुन्द को अभिप्रेत नहीं हो सकती। प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्यायों का कर्ता होता है (और पर्यायें उसका कर्म) परन्तु ऐसा नहीं है कि द्रव्य अपनी किसी भी पर्याय को कभी भी उत्पन्न कर दे। विशेष भूमिका/अवस्था/पर्याय को प्राप्त करके ही द्रव्य विशेषप्रकार से परिणामित हो सकता है। द्रव्य में जिस समय जैसी योग्यता होती है उस समय उसमें वैसा ही परिणाम उत्पन्न होता है। द्रव्य की पूर्ववर्ती अवस्था का नाम ही योग्यता है। अतः पूर्ववर्ती पर्यायविशेष से युक्त द्रव्य में उत्तरवर्ती क्षण में योग्यतानुसार एक नियत पर्याय ही उत्पन्न हो सकती है। अतः कुन्दकुन्द के सिद्धान्तों से यह भी फलित होता है कि प्रत्येक द्रव्य प्रतिक्षण नियमित क्रम से परिणामित हो रहा है।

क्रम नियमितपरिणामवाद का अर्थ है कि प्रत्येक पर्याय (घटना) का द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव नियत होता है। इस सिद्धान्त को 'नियतिवाद' (Fatalism) के स्थान पर 'नियतत्ववाद' (Determinism) कहना अधिक उपयुक्त है क्योंकि द्रव्य में घटित होनेवाली पर्याय का नियामक कोई बाह्य तत्त्व नहीं होकर वह द्रव्य स्वयं है। द्रव्य स्वयं अपनी पर्याय को 'नियत' करता है। यह नियतत्ववाद 'आत्मनियतत्ववाद' (Self determinism) है और उपादान कारणाता (Material Causality) पर आधारित है। नियतत्ववाद के पक्ष और विपक्ष में दर्शन के क्षेत्र में और विशेषकर पाश्चात्य दर्शन में काफी बहस हुई है जिसमें जैनविचारकों को भी भाग लेना चाहिए क्योंकि उनके यहाँ भी नियतत्ववाद (1) सर्वज्ञता की अवधारणा एवं (2) द्रव्य और कारण-कार्य संबंधी सिद्धान्तों के कारण फलित होता है। मुख्य समस्या यह है कि क्या नियतत्ववाद के साथ संकल्प-स्वातन्त्र्य और नैतिक उत्तरदायित्व का समन्वय संभव है? मेरी दृष्टि में जैन दर्शन में शायद हम संकल्प-स्वातन्त्र्य की बात नहीं कर सकते लेकिन व्यक्ति को उसके कर्मों के लिए उत्तरदायी अवश्य ठहराया जा सकता है। मन, वचन या काय से व्यक्ति ने जो कर्म किया वह नियत अवश्य था परन्तु उसे करने के लिए वह बाध्य नहीं था, उसे उसने 'स्वयं, स्वतन्त्र' होकर किया है, अतः कर्म के गुण या दोष के लिए भी वह स्वयं ही जिम्मेदार है।

1. समयसार, 3 ।
2. प्रवचनसार, 177 की अमृतचन्द्रकृत टीका ।
3. जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा एवं मोक्ष । इन सात तत्त्वों अथवा पुण्य व पाप सहित नवपदार्थों के यथार्थ श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। कुन्दकुन्द के अनुसार इन पदार्थों की यथार्थ श्रद्धा कर्ता-कर्म संबंध की सही समझ पर निर्भर करती है। इसलिए वे समयसार में नवपदार्थों की व्याख्या करते समय 'कर्ता-कर्म अधिकार' लिखते हैं ।
4. समयसार, 116-25 व अमृतचन्द्रकृत टीका ।
5. वही, 75 की टीका ।
6. वही, 99 ।
7. वही, 103 ।
8. वही, 85-86 अमृतचन्द्र दो क्रियावाद को मिथ्यात्व इस प्रकार प्रदर्शित करते हैं—
क्रिया=परिणाम=परिणामी । अतः यदि एक द्रव्य ने अन्य द्रव्य की क्रिया की तो एक द्रव्य अन्य द्रव्यमय अर्थात् अनेक द्रव्यमय (=मिथ्यात्व) हो गया ।
9. वही, 137-40 ।
10. पंचास्तिकायसंग्रह 61-63, तथा प्रवचनसार, 122 और उस पर अमृतचन्द्र कृत टीका ।

11. पंचास्तिकायसंग्रह 64, प्रवचनसार, 168 ।
12. प. का. 65, प्र. सा. 169, स. सा. 91, 312-13 ।
13. समयसार, 132-36 तथा अमृतचन्द्र कृत टीका ।
14. पंचास्तिकाय संग्रह 66 तथा इस पर अमृतचन्द्र कृत टीका ।
15. वही, 67 व टीका ।
16. समयसार, 80-82 ।
17. समयसार, 83-84, 98, 105-108, 349-55 ।
18. वही, 105 ।
19. वही, 84 की टीका ।
20. वही, 308-11 पर टीका ।
21. वही, 372 ।
22. पंचास्तिकायसंग्रह, 7 ।



ण भिज्जइ, ण लिप्पइ

जह पत्थरो ण भिज्जइ परिट्ठिओ दीहकालमुदएण ।

तह साहू वि ण भिज्जइ उवसग्गपरीसहेह्हितो ॥ 95 ॥

—जैसे दीर्घकाल तक जल में पड़ा हुआ पत्थर (जल के द्वारा) टुकड़े-टुकड़े नहीं किया जाता है, वैसे ही साधु भी उपसर्ग-परिषहों के कारण (उनके द्वारा) शिथिल नहीं किया जाता है ।

जह सल्लिणेण ण लिप्पइ कमलिणिपत्तं सहावपयडीए ।

तह भावेण ण लिप्पइ कसायविसएह्हि सप्पुरिसो ॥ 154 ॥

—जैसे कमलिनी का पत्ता स्वभाव और प्रकृति के कारण जल से मलिन नहीं किया जाता है वैसे ही सत्पुरुष (सम्यग्दृष्टि मनुष्य) कषायों और विषयों के कारण कुभाव से दूषित नहीं किया जाता है ।

—भावपाहुड

आचार्य कुन्दकुन्द निश्चय और व्यवहार

—डॉ० कमलचन्द सोगानी



विश्व के धार्मिक इतिहास में ऐसे अनेक व्यक्ति हुए हैं जिन्होंने आध्यात्मिक अनुभव को जीवन का चरमोत्कर्ष स्वीकार किया है। ऐसे व्यक्ति किसी देश, जाति, समाज आदि के बंधन से बँधे हुए नहीं हैं। विभिन्न वातावरण, विभिन्न देशकाल, विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों में उत्पन्न व्यक्तियों ने एक ही प्रकार के आध्यात्मिक अनुभवों की घोषणा की है। इससे प्रतीत होता है कि आध्यात्मिक अनुभव वैज्ञानिक अनुभव की भाँति मानव-जाति की सम्पत्ति है। इन आध्यात्मिक अनुभव करनेवालों को विभिन्न नामों से अभिहित किया गया है। उदाहरणार्थ—योगी, सन्त, तीर्थंकर, केवली, बोधिसत्व, सूफी, शुद्धोपयोगी, अर्हत्, स्थितप्रज्ञ इत्यादि। सभी योगियों-तीर्थंकरों आदि ने उस अनुभव को परामानसिक एवं इन्द्रियातीत घोषित किया है। उसे एक अपूर्व अन्तर्दृष्ट्यात्मक अनुभव कहा गया है। भाषा के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति एक समस्या है। मीन के द्वारा ही वह उत्तम रूप से अभिव्यक्त हुआ है। वह अनुभव शान्त एवम् निःशब्द है। पर जब इस अन्तर्दृष्ट्यात्मक आध्यात्मिक अनुभव की अभिव्यक्ति का प्रयास किया जाता है तो हम तुरन्त मानसिक बुद्ध्यात्मक स्तर पर उतर आते हैं। बुद्धि के द्वारा उसको समझने का प्रयास प्रारम्भ होता है। बुद्धि विश्लेषणात्मक होती है। वह दृष्टियों के माध्यम से अनुभव को पकड़ना एवं अभिव्यक्त करना चाहती है। वह इस अनुभव को दूसरों के लिए बुद्धिगम्य बना देना चाहती है। बौद्धिक स्तर अनुभव को सामाजिक बनाने का प्रयास है। इस प्रयास में अनुभव अपनी मौलिकता खो देता है। फिर भी वह एक अर्थ में सामाजिक बन जाता है। बुद्धि प्रत्ययों के माध्यम से कार्य करती है। इसलिए वह आध्यात्मिक अनुभव के खण्ड-खण्ड कर देती है। पर मानव

के पास इस अनुभव को दूसरों तक पहुँचाने का बुद्धि और भाषा के अतिरिक्त और कोई माध्यम भी तो नहीं है। अनुभव के सामाजीकरण के लिए बुद्धि और प्रत्ययात्मक भाषा एकमात्र शरण है। जैनदर्शन में उस आध्यात्मिक अनुभव को व्यक्त करने के लिए जिस शैली का उपयोग किया गया है उसे हम 'नय' शैली कहते हैं और जिन नयों का उपयोग किया गया है उन्हें हम निश्चयनय और व्यवहारनय कहते हैं। पर यह ध्यान रहे कि अनुभव इन दोनों नयों से अतीत है। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—नय पक्ष से रहित जीव आत्मा का अनुभव करता हुआ दोनों नयों के कथनों को मात्र जानता है और उन्हें किंचित् मात्र भी ग्रहण नहीं करता है।¹ इसका अभिप्राय यह है कि आध्यात्मिक अनुभव नयातीत है।

जैनदर्शन की यह नय-शैली उसके अनेकान्तवाद का परिणाम है। वस्तु के स्वरूप को कहने के लिए जैन दार्शनिकों ने विभिन्न नयों का उपयोग किया है। उन सब नयों का विभाजन हम दो प्रकार से कर सकते हैं—

(1) तथ्यात्मक और

(2) मूल्यात्मक

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय तथा इन्हीं के भेद रूपों में नैगम, संग्रह आदि सात नय तथ्यात्मक हैं। निश्चय और व्यवहार मूल्यात्मक नय हैं और इनका उपयोग जीव की आध्यात्मिक यात्रा को व्यक्त करने के लिए ही किया जाता है। नयों का यह उपर्युक्त विभाजन ऐसे ही है जैसे जैनदर्शन में सात तत्त्व और छह द्रव्यों का है। सात तत्त्वों का उद्देश्य मूल्यात्मक है जो जीव की निम्नतम अवस्था से उच्चतम अवस्था की ओर अग्रसर होने के मार्ग को अभिव्यक्त करता है। छह द्रव्यों का वर्णन तात्विक दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति है। अर्थात् मनुष्य के सामने जब प्रश्न जीव के विकास का होता है तब दृष्टि मूल्यात्मक होती है और सप्त तत्त्वों का सहारा ग्रहण करती है। पर जब प्रश्न जगत् के अन्तिम तत्त्वों को समझने का होता है तो दृष्टि तथ्यात्मक होती है और द्रव्यों के रूप में प्रकट होती है। यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि तथ्य और मूल्य का विभाजन वस्तुस्थिति में नहीं होते हुए भी बुद्धि के दृष्टिकोण से अवश्य उपस्थित है।

उपर्युक्त विवेचन का अभिप्राय यह है कि जैनदर्शन की निश्चय और व्यवहार शैली जीव के विकास का उद्घाटन करनेवाली मूल्यात्मक शैली है। इस शैली को परिपक्व अवस्था तक पहुँचाने का श्रेय आचार्य कुन्दकुन्द को है। उनके समयसार, प्रवचनसार, नियमसार आदि ग्रन्थ इस शैली का निरूपण करनेवाले अद्वितीय ग्रन्थ हैं। निश्चयनय जीव के शुद्ध स्वरूप का कथन करनेवाली दृष्टि है और व्यवहारनय उसके अशुद्ध स्वरूप का कथन करती है। इसलिए समयसार में कहा गया है कि निश्चयनय भूतार्थ है और व्यवहारनय अभूतार्थ है²। मूल्यात्मक दृष्टि से जीव का शुद्ध स्वरूप ही ग्राह्य है और जीव का अशुद्ध स्वरूप अग्राह्य है। यदि निश्चयनय आत्मापेक्षी है तो व्यवहारनय समाजापेक्षी है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि राग और द्वेष, शुभ और अशुभ,

मान और अपमान, घृणा और प्रेम आदि समाजलक्षी हैं। दूसरे के अस्तित्व के बिना इन द्वन्द्वों की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है। इसलिए कहा गया है कि यह सब व्यवहार है। आत्मा राग-द्वेष रहित है, मान-अपमान रहित है, जो ऐसा कहा गया है कि आत्मापेक्षी दृष्टि है इसलिए निश्चयनय है। मैं यहाँ यह प्रश्न उपस्थित नहीं कर रहा हूँ कि आत्मापेक्षी समाजापेक्षी नहीं हो सकती है। मेरा मानना यह है कि आत्मापेक्षी दृष्टिवाला ही शुद्ध सामाजिक दृष्टिवाला हो सकता है। इस बात का अधिक विवेचन करना अप्रासंगिक होगा। निश्चय और व्यवहार के संदर्भ में मैं यही कहना चाहता हूँ कि आत्मापेक्षी होना निश्चय है और परापेक्षी होना व्यवहार है। परापेक्षी का अर्थ है राग-द्वेष, शुभ-अशुभ तथा शरीर एवं अन्य की दृष्टिवाला होना। उदाहरणार्थ—निश्चयनय से जीव रूप, रस, गन्ध रहित चेतना गुणवाला, किसी चिह्न से ग्रहण न होने वाला तथा आकाररहित है^४। किन्तु व्यवहारनय से जीव रूप, रस, गंध वाला, राग-द्वेष का कर्ता, सुख-दुख का भोक्ता तथा स्वदेहपरिमाणवाला है। जीव कर्मों से स्पर्शित है यह व्यवहारनय की दृष्टि है किन्तु जीव कर्मों से अस्पर्शित है यह निश्चयनय की दृष्टि है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि निश्चयनयी व्याख्या सार्वभौमिक होती है जबकि व्यवहारनयी व्याख्या सीमित और एकदेशीय होती है। जैन दार्शनिकों ने आध्यात्मिक तत्त्वों की व्याख्या के लिए इन दोनों नयों का उपयोग किया है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की व्याख्या इन दोनों नयों की शैली पर की गई है। इसी कारण इन दोनों नयों की व्याख्या सर्वदेशीय और एकदेशीय बन गई है। जैसे सम्यग्दर्शन को लीजिए—निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा ही सम्यग्दर्शन है किन्तु व्यवहारनय की दृष्टि से सम्यग्दर्शन की व्याख्या अलग-अलग समयों में अलग-अलग कर दी गई है। कभी कहा गया है—सात तत्त्वों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, कभी कहा गया है—देव, शास्त्र, गुरु का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। इसी प्रकार निश्चयनय से सम्यक्चारित्र का अभिप्राय है आत्मा में रमण। व्यवहारनय से सम्यक्चारित्र की व्याख्या शुभ-अशुभ भावों पर आश्रित होने के कारण परिवर्तनशील है। शुभ-अशुभ भाव पर की अपेक्षा रखते हैं तथा सामाजिक मूल्यों पर उनकी व्याख्या आश्रित होती है। सामाजिक मूल्य सार्वकालिक नहीं हो सकते हैं इसलिए व्यवहारनय से सम्यक्चारित्र की व्याख्या भी सार्वकालिक नहीं हो सकती। कभी हमें चारित्र के बाह्यपक्ष को पकड़ना पड़ता है और कभी अन्तर्पक्ष को। इसलिये व्यवहार की व्याख्या भी परिवर्तनशील होती है। निश्चयनय की दृष्टि से सम्यग्ज्ञान का अर्थ है आत्मज्ञान, किन्तु व्यवहारनय की दृष्टि से परवस्तु का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। इस तरह से निश्चयनय परिवर्तनशील व्याख्याओं को स्वीकार न कर अपरिवर्तनशील व्याख्याओं का हामी होता है।

इतना सब कुछ होते हुए भी व्यवहारनय निश्चयनय की दृष्टि को हृदयंगम कराने-वाला होता है। जिन लोगों को निश्चयनय का कथन बुद्धिगम्य नहीं होता और इस कारण वे उस मार्ग का अनुसरण नहीं कर सकते उनके लिए व्यवहारनय उपयोगी होता है। आचार्य अमृतचन्द्र (पुरुषार्थसिद्धयुपाय में) कहते हैं कि अज्ञानी जीवों को समझाने के लिए व्यवहारनय

का उपयोग किया जाता है। जैसे किसी व्यक्ति को शुद्धोपयोग की बात समझ में न आये तो उसको शुभ-अशुभ भावों के माध्यम से समझाने का प्रयास किया जाता है। इस प्रकार व्यवहारनय निश्चयनय का निमित्त बन सकता है। लेकिन यदि कोई व्यक्ति व्यवहारनय में ही अटक जाये और उसी को अन्तिम मान ले तो वह व्यवहाराभासी कहलायेगा। ऐसे व्यक्ति धर्म के सार्वभौमिक तत्त्व को जाने बिना धर्म के बाह्य रूपों से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। वास्तव में देखा जाय तो व्यवहारनय उसी समय व्यवहारनय होता है जिस समय वह निश्चयनय की ओर दृष्टि को मोड़नेवाला बने अन्यथा वह व्यवहाराभास ही है। इसी तरह यदि कोई व्यक्ति अपनी वर्तमान स्थिति को विचारे बिना निश्चयनय की दृष्टि से अपने को शुद्ध मान बैठे और शुभ भावों को बन्ध का कारण जानकर हेय कह दे तो वह व्यक्ति निश्चयाभासी होगा। निश्चय दृष्टि को व्यवहार की अपेक्षा है तो व्यवहार दृष्टि को निश्चय की।

ये दोनों नय अर्थात् के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं क्योंकि मनुष्य आत्मानुभव पर तुरन्त ही छलांग नहीं लगा सकता। वह शनैः शनैः ही उस ओर अग्रसर होता है। ऐसे समय में निश्चयनय उस दिशासूचक यंत्र की भाँति होता है जो सही दिशा में चलने की प्रेरणा देता रहता है और व्यवहारनय को अपने ऊपर हावी नहीं होने देता। व्यवहार को निश्चय का अनुगमन करनेवाला बनाये रखता है। यदि यह कहा जाय कि निश्चय के बिना व्यवहार अंधा है और व्यवहार के बिना निश्चय कोरा काल्पनिक है तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। मानसिक स्तर पर वे दोनों परस्परापेक्षी हैं। जैसा कहा जा चुका है अनुभव स्तर पर न निश्चय है और न व्यवहार।

हमें यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि निश्चय और व्यवहार का वास्तविक अनुभव सम्यग्दृष्टि को ही हो सकता है। सम्यग्दृष्टि आत्माएँ दो तल पर जीती हैं। एक तल पर वे अनन्त की ओर उन्मुख हैं तो दूसरे तल पर उनका सान्त से सम्बन्ध है। इन्हें भान हो चुका है कि जिस तल पर वे जा रही हैं वह अन्तिम नहीं है। अतः वे अनन्त में छलांग लगाने के लिये सदैव उद्यत हैं। ये ऐसी आत्माएँ हैं जिनमें अनन्त के प्रति जागरूकता उत्पन्न हो चुकी है। उनके जीवन में अनन्त और सान्त का संघर्ष मूर्तिमान हो उठा है। ऐसी आत्माओं के अनन्त और सान्त तल को भी निश्चय और व्यवहार कहा जा सकता है। वे जीती हैं व्यवहार तल पर, उन्मुख हो चुकी हैं निश्चय की ओर। सम्यग्दृष्टि के लिए व्यवहार एक विवशता है क्योंकि आखिर उसे उस तल से उठकर निश्चय तल में जीना ही है। जीवन के इन दो स्तरों का अनुभव केवल सम्यग्दृष्टि को ही हो सकता है। मिथ्यादृष्टि जीव इनका अनुभव नहीं कर सकते क्योंकि उनमें अनन्त के प्रति जागृति का पूर्ण अभाव है। इसलिये कुन्दकुन्द ने समयसार में कहा है—'सर्व लोक को काम, भोग सम्बन्धी बन्ध की कथा तो सुनने में आ गई, परिचय में आ गई और अनुभव में आ गई, इसलिये सुलभ है, किन्तु आत्मा का भिन्नत्व न तो सुना है, न परिचय में आया है और न अनुभव में आया है, अतः एक मात्र वही सुलभ नहीं है।' यह बात आचार्य ने उन जीवों के लिए कही है जो केवल शरीर-तल पर ही जी रहे हैं।

वे चाहते हैं कि मनुष्य इस तल की सीमाओं को जानकर अनन्त की ओर अग्रसर हो। क्योंकि सिंह को सर्वथा नहीं जाननेवाले पुरुष के लिए जैसे बिल्ली सिंहरूप में दिखाई देने लग जाती है, उसी प्रकार निश्चयनय के स्वरूप से अपरिचित पुरुष के लिए व्यवहार ही निश्चयनय के रूप में दिखाई पड़ने लग जाता है।

निश्चय और व्यवहार के इस सैद्धान्तिक विवेचन के पश्चात् अब हमें यह देखना है कि अध्यात्म के मूलभूत पहलुओं का इन दो दृष्टियों से मूल्यांकन कैसे किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि किस प्रकार जीव, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर आदि तत्त्वों को तथा कर्ता-कर्म आदि विषयों को इन दो दृष्टियों से परखा जा सकता है? निश्चय दृष्टिकोण से जीव और शरीर कभी भी एक पदार्थ नहीं हो सकते, किन्तु व्यवहारनय जीव और शरीर की एकता प्रतिष्ठापित करता है।⁴ इसी प्रकार निश्चय से मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन-ज्ञानमय हूँ, सदा अरूपी हूँ, परद्रव्य किञ्चित् मात्र भी मेरा नहीं है⁵, जीव के वर्ण नहीं है, गंध नहीं है, राग और द्वेष भी नहीं है ऐसा कथन करना निश्चयनय है और जीव के ये सभी हैं ऐसा व्यवहारनय से कहा जाता है⁶। जैसे मार्ग में जाते हुए व्यक्ति को लुटता हुआ देखकर 'यह मार्ग लुटता है' इस प्रकार लोक में व्यवहार होता है किन्तु निश्चय से विचार किया जाये तो मार्ग नहीं लुटता, मार्ग में जाता हुआ मनुष्य ही लुटता है। इसी प्रकार जीव के शरीर के सम्बन्ध में रूप, रस, गंध का व्यवहार होता है। निश्चय से जीव तो शुद्ध स्वरूप है उसे सांसारिक केवल व्यवहार से ही कहा जाता है।

कर्ता-कर्म के सम्बन्ध में भी इन दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। यह कहना कि जीव राग-द्वेष पुद्गल कर्मों का कर्ता है और उन्हीं का भोक्ता है, व्यवहार है। निश्चयनय से यह आत्मा अपने शुद्ध भावों का कर्ता और भोक्ता है⁷। यदि निश्चय से यह आत्मा पुद्गल कर्म को करे और उसी को भोगे तो यह परद्रव्य का करनेवाला हो जायेगा जो कि युक्तिसंगत नहीं है। व्यवहार से यह कहा जाता है कि यह आत्मा घट, पट, रथ-इत्यादि वस्तुओं को और क्रोधादि कर्मों को करनेवाला है। यदि इसी को निश्चय से मान लिया जाय तो यह आत्मा परद्रव्यमयी बन जायेगा। निश्चय दृष्टिकोण से शुभ-अशुभ भावों का कर्ता और भोक्ता आत्मा नहीं हो सकता। वह तो केवल शुद्ध भावों का ही कर्ता हो सकता है, क्योंकि उसी से उसकी तन्मयता सम्भव है। अतः कहा जा सकता है कि आत्मा अपने को ही कर्ता है और अपने को ही भोक्ता है अन्य को नहीं⁸, इसका अन्वय यह नहीं है कि राग-द्वेष आदि परिणामों का उत्तरदायित्व जीव पर न हो। जीव अनादि काल से कर्मों से बंधा हुआ है, इसलिए कर्मों का निमित्त पाकर राग-द्वेषादि परिणाम जीवों के होते हैं इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है। बात यह है कि जिस भूमिका में जीव होता है उस संबंधी भावों का कर्ता व भोक्ता होता है। कहा है अज्ञानी के भाव अज्ञानमय होते हैं⁹।

निश्चय और व्यवहार दृष्टि से पुण्य और पाप पर भी विचार किया जा सकता है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि अहिंसा आदि व्रतों का धारण करना पुण्य है तथा क्रोध, मान, माया, लोभादि कुकर्म करना पाप है। इन्हीं को शुभ-अशुभ कर्म भी क्रमशः कहा जाता है। चारित्र के क्षेत्र में अशुभ तो त्याज्य ही है, उसके लिए तो कोई स्थान है ही नहीं, पर शुभ ग्रहण करने योग्य है। अध्यात्म में प्रश्न यह है कि क्या निश्चय दृष्टिकोण से शुभ को ग्राह्य कहा जाय ? जब यह प्रश्न उठता है तो आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि 'पुण्य भी एक सोने की बेड़ी है,¹⁰' इसका अभिप्राय यह नहीं समझना चाहिये कि शुभ कर्म जीवन में पूर्णतया हेय है। जब तक मनुष्य आत्मानुभव की भूमिका पर अवस्थित नहीं होता तब तक शुभ कर्म उपादेय है। उस भूमिका को प्राप्त करने के पहिले ही यदि शुभ कर्मों को हेय मान लिया जायेगा तो व्यक्ति अशुभ से बचने के लिए किसका सहारा लेगा ? इससे यह भी नहीं समझ लेना चाहिये कि वह शुभ करते-करते शुद्ध को प्राप्त हो जायेगा। शुद्ध भावों की प्राप्ति तो शुद्ध भावों से ही होती है शुभ से नहीं। दूसरे शब्दों में, निर्विकल्प अवस्था की प्राप्ति सविकल्प अवस्था से नहीं हो सकती। सम्भवतया इसी बात को ध्यान में रखकर आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा—“प्रतिक्रमण, निन्दा आदि विष-कुंभ हैं”¹¹, यदि इस बात को सुन कर कोई आत्मा बिना शुद्ध में स्थित हुए शुभ को छोड़ दे तो ध्यान रहे वह आत्मा अशुभ में चला जायेगा। इसलिये सामान्य जीवों के लिए शुभ ही एकमात्र सहारा है। जहाँ-जहाँ शुभ को व्यवहार कह कर त्याज्य कहा गया है वहाँ-वहाँ निश्चय की अपेक्षा ही ऐसा है।

जैनदर्शन में निश्चय और व्यवहार के इस विवेचन के पश्चात् हमें ये देखना है कि अद्वैत वेदान्त के परमार्थ और व्यवहार का इससे क्या भेद है ? अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म ही परमार्थरूप से सत्य है, भौतिक तत्त्व व्यावहारिक रूप से सत्य है। इस तरह यहाँ सत्ता के परमार्थ और व्यवहार रूप से भेद हैं। जैनों का व्यवहारनय वस्तुओं की सत्ता को नहीं छूता है। वह तो केवल आत्मा के पतन की ओर संकेत करता है और निश्चयनय उच्चतम अवस्था तक पहुँचने की ओर प्रेरित करता है। जैनदर्शन में सत्ता के विभाग पारमार्थिक और व्यावहारिक रूप से नहीं किये गये हैं। इस तरह से जैनदर्शन के निश्चय और व्यवहार वैसे नहीं हैं जैसे अद्वैत वेदान्त के परमार्थ और व्यवहार हैं। दोनों में मौलिक भेद है।

1. दोण्ह वि णयाण भणिदं जाणदि एवदि तु समयपडिबद्धो ।

ण दु णयपक्खं गिण्हदि किञ्चि वि णयपक्खपरिहीणो ॥143॥ स. सा.

2. ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।

भूदत्थ मस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो ॥11॥ स. सा.

3. अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्धं ।

जाण अलिगग्गहणं जीवमणिद्धिसंठाणं ॥49॥ स. सा.

4. ववहारणओ भासदि जीवो देहो य हवदि खलु एक्को ।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एक्कट्ठो ॥27॥ स. सा.
5. अहमेक्को खलु सुद्धो दंसणणाणामइओ सयारूवी ।
ण वि अत्थि मज्झ किञ्चि वि अण्णं परमाणुमेतं पि ॥38॥ स. सा.
6. जीवस्स णत्थि वण्णो ण वि गंधो ण वि रसो ण वि य फासो ।
ण वि रूवं ण सरीरं ण वि संठाणं ण संहरणं ॥50॥
जीवस्स णत्थि रागो ण वि दोसो रोव विज्जदे मोहो ॥
णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि ॥51॥
जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा रोव फड्ढया केई ।
णो अज्झप्पट्टाणा रोव य अणुभागठाणा वा ॥52॥
जीवस्स णत्थि केई जोगट्टाणा ए बंधठाणा वा ।
रोव य उदयट्टाणा ण मग्गणट्टाणया केई ॥53॥
णो ठिदि बंधट्टाणा जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा ।
रोव विसोहिट्टाणा णो संजमलद्धिठाणा वा ॥54॥
रोव य जीवट्टाणा ण गुणट्टाणा य अत्थि जीवस्स ।
जेण दु एदे सब्बे पोग्गलदव्वस्स परिणामा ॥55॥
ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णामादीया ।
गुणठाणांता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ॥56॥ स. सा.
7. णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि ।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं ॥83॥
ववहारस्स दु आदा पोग्गलकम्मं करेदि रोयविहं ।
तं चेव य वेदयदे पोग्गलकम्मं अरोयविहं ॥84॥ स. सा.
8. समयसार, 83 ।
9. कणयमया भावादो जायंते कुंडलादयो भावा ।
अयमयया भावादो जह जायंते दु कडयादी ॥130॥ स. सा.
अण्णाणमया भावा अणाणियो बहुविहा वि जायंते ।
णाणिस्स दु णाणमया सब्बे भावा तहा हींति ॥131॥ स. सा.
10. सोवणियायं पि शिण्यलं बंधदि कालयसं पि जह पुरिसं ।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं ॥146॥ स. सा.
11. पडिकमराणं पडिसराणं पडिहराणं धारणा शिण्यत्ती य ।
णिदा गरुहा सोही अट्टविहो होदि विसकुंभो ॥306॥ स. सा.



सम्यग्ज्ञान

शाणं पुरिसस्स हवदि लहदि सुपुरिसो वि विणयसंजुत्तो ।
शाणेण लहदि लखं लखंतो भोक्खमग्गस्स ॥21॥ बो. पा.

पाऊण शाणसलिलं शिम्मलसुविसुद्धभावसंजुत्ता ।
हुंति सिवालयवासी तिहुवणचूडामणि सिद्धा ॥41॥ चा. पा.

णाणगुरोहिं विहीणा ण लहंते ते सुइच्छियं लाहं ।
इय णाउं गुणदोसं तं सणाण वियाणेहि ॥42॥ चा. पा.

—ज्ञान आत्मा में है, उसे विनययुक्त पुरुष ही प्राप्त करता है। ज्ञान द्वारा यह जीव मोक्षमार्ग का चिन्तन करता हुआ लक्ष्य को प्राप्त करता है।

—जो व्यक्ति ज्ञानरूपी जल को पीकर निर्मल एवं शुद्धभावों से युक्त हैं वे त्रिभुवन के चूडामणि (आभूषण) हैं तथा शिवालय में रहनेवाले मुक्त (सिद्ध) हो जाते हैं।

—जो (सम्यक्) ज्ञान-गुण से रहित हैं वे भली प्रकार से चाहे हुए लाभ को भी प्राप्त नहीं करते, इस प्रकार गुण-दोष को जानने के लिए (तु) सम्यग्ज्ञान को समझ।

कुन्दकुन्द-साहित्य में समकालीन सांस्कृतिक जीवन की झाँकियाँ

—डॉ. (श्रीमती) विद्यावती जैन



श्रमण संस्कृति के अमरगायक आचार्य कुन्दकुन्द युगप्रधान के रूप में माने गये हैं। उन्होंने मानव-जीवन को अमृतरस से सिंचन करने हेतु अध्यात्म-रस का जैसा अजस्र स्रोत प्रवाहित किया वह भारतीय-चिन्तन के क्षेत्र में अनुपम है। जीवन एवं जगत् तथा जड़ एवं चेतन का गम्भीर अध्ययन, मानव-मनोविज्ञान का अद्भुत विश्लेषण और प्राणिमात्र के प्रति उनकी अविरल करुण-भावना अभूतपूर्व है। यही कारण है कि प्राच्य एवं पाश्चात्य चिन्तकों ने उन्हें मानवता का महान् प्रतिष्ठाता माना है।

काव्य-सौष्ठव

आचार्य कुन्दकुन्द ने लगभग अपने छयासठे वर्ष के आयुष्य में 23¹ रचनाओं का प्रणयन किया जिनका मूलविषय द्रव्यानुयोग एवं चरणानुयोग है। यद्यपि इस प्रकार का साहित्य विचार-प्रधान होने से बहुत अधिक लोकप्रिय नहीं होता क्योंकि सामान्यजनों का उसमें सहज-प्रवेश नहीं हो पाता, किन्तु कुन्दकुन्द की यह विशेषता है कि उन्होंने अपनी समस्त रचनाओं में इतनी सरसता एवं मधुरता घोल दी और उसमें समकालीन लोक-प्रचलित सरल भाषा और दैनिक लौकिकजीवन के उदाहरणों-प्रसंगों से उसे इस प्रकार सनाथ किया है कि आबाल-वृद्ध सभी नर-नारी उसका रसास्वादन कर अघाते नहीं।

कुन्दकुन्द साहित्य के सांस्कृतिक पक्ष की अद्यावधि उपेक्षा

इसमें सन्देह नहीं कि 20वीं शताब्दी में कुन्दकुन्द-साहित्य का विस्तृत अध्ययन, तुलनात्मक चिन्तन, मनन, शोध एवं प्रकाशन हुआ है किन्तु इन अध्ययनों का मुख्य दृष्टिकोण केवल दर्शन एवं अध्यात्म तक ही सीमित रहा है। यह आश्चर्य का विषय है कि अभी तक अध्येताओं का ध्यान कुन्दकुन्द-साहित्य के सांस्कृतिक मूल्यांकन की ओर नहीं गया। अतः मैं अपने इस लघु निबन्ध में कुन्दकुन्द की रचनाओं में उपलब्ध कुछ सांस्कृतिक एवं तत्सम्बन्धी अन्य तथ्यों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न कर रही हूँ।

कुन्दकुन्द की बहुज्ञता

कोई भी कवि साहित्य-लेखन के पूर्व अपने चतुर्विक् व्याप्त जड़ और चेतन का गम्भीर अध्ययन ही नहीं करता बल्कि उससे साक्षात्कार करने का प्रयत्न भी करता है तभी वह अपने कविकर्म में चमत्कारजन्यसिद्धि प्राप्त कर पाता है। आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य का अध्ययन करने से यह तथ्य स्पष्ट विदित होता है।

कुन्दकुन्द-साहित्य में उपलब्ध प्राच्य-भारतीय-भूगोल

उनके 'दसमक्त्यादि संग्रह' में संग्रहीत निर्वाण-काण्ड को ही लिया जाय उसमें उन्होंने समकालीन देश, नगर, नदी एवं पर्वतों का गेय-शैली में जितना सुन्दर अंकन किया है वह अपूर्व है²। जैन तीर्थों के इतिहास की दृष्टि से तो उसका विशेष महत्त्व है ही, प्राच्य-भारतीय भूगोल की दृष्टि से भी वह कम महत्त्वपूर्ण नहीं। यह ध्यातव्य है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने परम्परा-प्राप्त जैन तीर्थ-भूमियों के रूप में जिस भारतीय भूगोल की जानकारी दी है वह ईसा की प्रथम शताब्दी का है। उन्होंने पर्वतराज हिमालय के गर्वोन्नत भव्य-माल कैलाशपर्वत से लेकर जम्मू तक तथा गुजरात के गिरनार, दक्षिण के कुन्थलगिरि, पूर्वी भारत के सम्मेदगिरि तथा दक्षिण-पूर्व की कोटिशिला के चतुष्कोण के बीचों-बीच लगभग 40 प्रधान नगरों, पर्वतों एवं नदियों तथा द्वीपों के उल्लेख किये हैं। उसका वर्गीकरण निम्नप्रकार किया जा सकता है —

उत्तरभारत — हस्तिनापुर, वाराणसी, मथुरा, अहिच्छत्र, जम्मू (नगर), अष्टापद (कैलाश पर्वत)।

पश्चिमभारत — लाट देश, फलहोडी, बडग्राम (नगर), ऊर्जयन्त (गिरनारपर्वत), गजपन्था, शत्रुञ्जय, तुंगीगिरि, द्रोणगिरि आदि।

मध्यभारत — अचलपुर, बड़वानी, बड़नगर, मेढगिरि, पावागिरि, द्रोणगिरि, सोनागिरि, रेशिन्दीगिरि, सिद्धवरकूट, चूलगिरि, रेवा नदी, चेलना नदी।

पूर्वभारत — चम्पापुरी, पावापुरी (नगर), सम्मेदशिखर, लोहागिरि, (लुहरदग्गा, वर्तमान बिहार)।

दक्षिणभारत — कलिगदेश, तारवर नगर, कुन्थलगिरि, कोटिशिला।

अज्ञातस्थल—पोदनपुर, नागहृद, आशारम्भ ।

उक्त जैन-तीर्थों के चतुर्दिक् विस्तार से इस तथ्य पर भी प्रकाश पड़ता है कि जैनधर्म भारतव्यापी था । राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता हेतु उसके प्रयत्न प्रारम्भ से ही संरचनात्मक रहते आये हैं ।

राजनीतिसम्बन्धी सन्दर्भ

सम्भवतः राजनीति एवं युद्ध के क्षेत्र में भी कवि के अपने कुछ अनुभव थे जो निम्न प्रकार हैं—

सप्तांगराज्य⁸—मनुस्मृति⁴, कौटिल्यग्रन्थशास्त्र⁵ एवं नीतिवाक्यामृत⁶ के अनुसार राज्य के सात अंग माने गए हैं । 1. स्वामी (अर्थात् राजा), 2. अमात्य (अर्थात् मन्त्री), 3. राष्ट्र (इसके अन्तर्गत कृषि, व्यापार एवं भूमि की पैमाइश परिगणित होती थी), 4. दुर्य (अर्थात् शुल्क, दण्ड, पौनव, नगराध्यक्ष, लक्षणाध्यक्ष, मुद्राध्यक्ष, सुराध्यक्ष, शूनाध्यक्ष, सूत्राध्यक्ष, स्वर्णाध्यक्ष एवं शिल्पी आदि से वसूल किया जानेवाला धन), 5. कोष (अर्थात् राष्ट्र की समृद्धि एवं प्रजाजनों के सर्वांगीण सुखों के लिए संचित धन), 6. बल (अर्थात् विभिन्न सैन्य-शक्ति) तथा 7. सुहृद (अर्थात् मित्र) ।

षडंगबल⁷—षडंगबल अर्थात् छह अंगों से युक्त सेना—सारभूतसेना, पदाति सेना, अधिकारी सेना, सामान्य-सेवक श्रेणी सेना, मित्र सेना एवं ब्राह्मिक सेना⁸ ।

चतुरंगिणी सेना⁹—चतुरंगिणी सेना अर्थात् गजसेना, रथसेना, अश्वसेना एवं पैदलसेना¹⁰ ।

धनुर्विद्या¹¹—कवि ने धनुर्विद्या का उल्लेख विशेषरूप से किया है । प्रतीत होता है कि उस समय युद्ध में धनुष का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया जाता था ।

वस्त्रप्रकार—कुन्दकुन्द भले ही अखण्ड दिगम्बर मुनि थे किन्तु एक उदाहरण में उन्होंने अपने समय के वस्त्रों का उल्लेख किया है¹² । उनके अनुसार उस समय भारत में पाँच प्रकार के वस्त्रों का प्रचलन था—

1. अंडज (कीड़ों द्वारा निर्मित घामे के बने हुए अर्थात् रेशमी वस्त्र) ।
2. वोंडज (कपास द्वारा निर्मित सूती वस्त्र) ।
3. रोमज (जानवरों के रोम से बनाये गये ऊनी वस्त्र) ।
4. वक्कज (पेड़ की छाल द्वारा बनाये गये बल्कल वस्त्र) एवं
5. चर्मज (मृग, व्याघ्र आदि के चर्म से बनाये गये वस्त्र) ।

एक स्थान पर आचार्य कुन्दकुन्द ने सुई-तागे का भी उल्लेख किया है¹³ । इससे संकेत मिलता है कि कुन्दकुन्द-काल में सिलाई तथा कढ़ाई की हस्तकला का प्रचलन हो चुका था ।

सामाजिक शिक्षा के तत्त्व—प्रारम्भिक शिक्षण के लिए कवि ने बाल्यावस्था को उपयुक्त बतलाया है¹⁴। उन्होंने कहा है कि समाज के बच्चों के लिए प्रारम्भ से ही व्याकरण (भाषा के शुद्ध प्रयोग एवं भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से), छन्द (पद्यों के वर्ण एवं मात्रा के वैज्ञानिक अध्ययन, सस्वर पाठ एवं उसे सरस और गेय बनाने की दृष्टि से), न्याय (तर्कणा-शक्ति की अभिवृद्धि के लिए), धर्म (जीवन में आचार एवं अध्यात्म के वैज्ञानिक जागरण के लिए), दर्शन (विचारों की गहन अनुभूति के लिए) व गणित (राष्ट्रीय एवं सामाजिक व्यवहार के संचालन के लिए) का अध्ययन नितान्त आवश्यक है।

लगता है कुन्दकुन्द के समय में लेखन-सामग्री आज के समान प्रचुर मात्रा में उपलब्ध नहीं थी। स्याही एवं मोरपंख अथवा काष्ठनिर्मित कलम सम्भवतः व्यय-साध्य होने के कारण विशिष्ट कोटि के लेखकों को ही उपलब्ध रहती होगी। किन्तु सामान्यजनों के लिए खड़िया (चॉक) से दीवार अथवा पत्थर पर लिखने की परम्परा थी¹⁵।

समकालीन दार्शनिक सम्प्रदाय—आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने वर्णन-प्रसंगों में समकालीन प्रचलित विविध दार्शनिक मतों के उल्लेख किए हैं। उनसे विदित होता है कि उन्होंने उनका भी अध्ययन किया था। उस समय 363 दार्शनिक मत प्रचलित थे¹⁶ जिनका वर्गीकरण कुन्दकुन्द ने निम्नप्रकार किया है—

1. क्रियावादी	180
2. अक्रियावादी	84
3. अज्ञानी	67
4. वैनयिक	32

	363

दुःख प्रकार—आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है—“यह संसार केवल दुःखों का और यह शरीर केवल रोगों का ही घर है। संसार के सभी सुख क्षणिक हैं, इनसे मुक्ति प्राप्त कर शाश्वत-सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करो।” ऐसे सांसारिक दुःखों का वर्गीकरण उन्होंने निम्नप्रकार किया है¹⁷—

1. आगन्तुक (जो दुःख दूसरों के कारण से उत्पन्न हो)।
2. मानसिक (जो पारिवारिक कारणों से उत्पन्न हो)।
3. साहजिक (जो दुःखी प्राणियों को देखकर उत्पन्न हो)।
4. शारीरिक (वात, पित्त एवं कफ के कुपित हो जाने से उत्पन्न बीमारियों के कारण जो दुःख उत्पन्न हो)।

औषधि प्रकार—शारीरिक रोगों के विषय में कुन्दकुन्द ने लिखा है कि शरीर के एक-एक अंगुल में 96-96 रोग हो सकते हैं¹⁸। इन बीमारियों के इलाज के लिए उन्होंने पांच प्रकार की औषधियाँ भी बतलाई हैं¹⁹ जिनका वर्गीकरण निम्नप्रकार किया गया है—

1. आमौषधि, 2. जलौषधि, 3. खेलौषधि, 4. विप्रुषधि एवं 5. सर्वौषधि।

आचार्य ने एक स्थान पर शारीरिक संरचना का भी सुन्दर वर्णन किया है।²⁰

स्वस्थ रहने के साधन—आचार्य ने शारीरिक शक्ति को बढ़ाने के लिए व्यायाम का वर्णन भी किया है। शरीर में तेल लगाकर घूलिवाले स्थान में दण्ड-बैठक करने एवं मुग्दर आदि शस्त्रों के द्वारा व्यायाम करने, साथ ही केला, तमाल, अशोक आदि वृक्षों के साथ अपनी शक्ति आजमाने पर भी प्रकाश डाला है²¹।

खाद्य एवं पेय पदार्थ—भोजन-वर्णन में आचार्य कुन्दकुन्द ने अनेक बार तिल का उल्लेख करने के अतिरिक्त अन्य किसी विशेष अनाज का उल्लेख नहीं किया है²²। इससे प्रतीत होता है कि उस समय भोजन में तिल अपना विशेष स्थान रखता था। ऐसा प्रतीत होता है कि तिल बहुत ही गुणकारी पदार्थ होने से उसके तथा उसके तेल से बने हुए मोदक आदि व्यंजनों का प्रयोग सार्वजनीन रहा होगा। पेय पदार्थों में उन्होंने दूध²³ और इक्षुरस²⁴ का उल्लेख किया है।

उद्योग-धंधे—उद्योग-धन्धों में आचार्य स्वर्णशोधन²⁵, रत्ननिर्माण²⁶, विषौषधि-निर्माण²⁷, आभूषण-निर्माण²⁸, कृषि के यन्त्र-रहट बनाने²⁹ तथा हँसिया-निर्माण³⁰, भवन-निर्माण³¹, मूर्ति-निर्माण³² आदि के उल्लेख किये हैं।

मनोरंजन के साधन—मनोरंजन के साधनों में आचार्य ने गोष्ठी³³ का उल्लेख किया है। इससे प्रतीत होता है कि उस समय विभिन्न प्रकार की गोष्ठियों का आयोजन उसी प्रकार किया जाता था जिस प्रकार आजकल कविसम्मेलन, संगीतसम्मेलन या साहित्यिक सम्मेलनों का आयोजन किया जाता है।

प्रथमानुयोग के मूलस्रोत—आचार्य कुन्दकुन्द ने यद्यपि कथा-साहित्य नहीं लिखा क्योंकि उनका समाज प्रबुद्ध था। कथा-कहानियों के माध्यम से सिद्धान्तों को समझाने की आवश्यकता तो केवल मन्द-बुद्धिवाले लोगों के लिए ही होती है। कुन्दकुन्द ने संसार को बढ़ानेवाली विकथाओं को चार वर्गों में विभाजित किया³⁴ है—

1. भक्तकथा—(भोजन के प्रति राग जागृत करनेवाली कथा)।
2. स्त्रीकथा—(स्त्रियों के प्रति आसक्ति जागृत करनेवाली कथा)।
3. राजकथा—(कपट-कूट एवं राजनीति का विश्लेषण करनेवाली कथा)।
4. चौरकथा—(चौर्य-कला का निरूपण करनेवाली कथा)।

कुन्दकुन्द के समय तक जैन-कथा एवं पुराण-साहित्य के लेखन का प्रारम्भ नहीं हुआ था किन्तु उन्होंने आगत-परम्परा के अनुसार कथा-बीजों के संकेत सैद्धान्तिक उदाहरणों के प्रसंग में अवश्य किये हैं जो परवर्ती कथा-साहित्य के लिए स्रोत-सामग्री के प्रमुख आधार बने। ऐसे कथा-बीजों में बाहुबलि, वशिष्ठमुनि, बाहुमुनि, द्वैपायनमुनि, वीरशिवकुमार, शिवभूति, भव्यसेन एवं शालिसिवथ प्रमुख हैं³⁵।

इन कथा-प्रसंगों के मात्र संकेत ही आचार्य ने प्रस्तुत किये हैं। आगे चलकर ब्रह्मनेमिदत्त, रामचन्द्र मुमुक्षु एवं हरिषेण आदि कवियों ने इन कथानकों को साहित्य-शैली में विस्तार देकर बहुत रोचक बना दिया है।

साधुओं एवं गृहस्थों में कदाचार के संकेत एवं दण्ड-प्रथा—बहुत सम्भव है कि तत्कालीन गृहस्थों एवं साधुओं में कदाचार को देखकर आचार्य कुन्दकुन्द दुःखी भी हुए हों क्योंकि उन्होंने लिगपाहुड की अनेक गाथाओं में साधुओं को शास्त्रोक्त पद्धति से आचरण करने का आदेश दिया है। उन्होंने राहगीरों पर पड़ी डकैती की भी चर्चा की³⁶ है एवं चोरी-डकैती में पकड़े गए चोरों-डकैतों के पैरों में पड़ी हुई बेड़ी³⁷ का भी उल्लेख किया है। इससे चोरी एवं डकैती होने तथा इस प्रकार के घृणित, समाज-विरोधी कार्य करनेवालों के लिए कठोर दण्ड-व्यवस्था के भी संकेत मिलते हैं।

यह तो आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य में उपलब्ध प्राच्य-भारतीय संस्कृति की भाँकी मात्र है। वस्तुतः कुन्दकुन्द-साहित्य में संस्कृति के विविधरूप इतनी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं कि यदि मधुकरी वृत्ति से उनका संग्रह कर विश्लेषण किया जाय तो एक स्वतन्त्र प्रेरक शोध-प्रबन्ध बन सकता है जो केवल जैन-संस्कृति का ही नहीं अपितु प्राच्य-भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के लिए भी एक दस्तावेज का कार्य कर सकता है। संक्षेप में तो यही कहा जा सकता है कि आचार्य कुन्दकुन्द को केवल जैन-धर्म एवं संस्कृति का प्रतिनिधि आचार्य ही नहीं अपितु भारतीय संस्कृति के सर्वांगीण पक्षों को प्रकाशित करनेवाले एक महर्षि योगी लेखक के रूप में भी स्मरण किया जाना चाहिए।

-
- (1) 1. समयसार, 2. प्रवचनसार, 3. पंचास्तिकाय, 4. नियमसार,
5. रयणसार, 6. बारस अणुवेक्खा, 7. दंसरापाहुड, 8. सूत्रपाहुड,
9. चारितपाहुड, 10. बोधपाहुड, 11. भावपाहुड, 12. मोक्षपाहुड,
13. लिगपाहुड, 14. सीलपाहुड, 15-24, दसभक्त्यादिसंग्रह।

(2) निर्वाणकाण्ड, गाथा 1-18।

(3) रयणसार, 20।

(4) मनुस्मृति, 9.294।

(5) कौटिल्य अर्थशास्त्र, 6/1।

- (6) नीतिवाक्यामृत, 24/1 ।
- (7) रयणसार, 20 ।
- (8) नीतिवाक्यामृत, 22/12 ।
- (9) बारस अणुवेक्खा, 10 ।
- (10) नीतिवाक्यामृत, 22/2 ।
- (11) बोधपाहुड, 20, 22 ।
- (12) भावपाहुड, 79-81 ।
- (13) सूत्रपाहुड, 3 ।
- (14) शीलपाहुड, 15-16 ।
- (15) समयसार, 356-365 ।
- (16) भावपाहुड, 136 ।
- (17) भावपाहुड, 99 ।
- (18) भावपाहुड, 37 ।
- (19) भक्त्यादिसंग्रह, 16 ।
- (20) भावपाहुड, 39, 40, 42 ।
- (21) समयसार, 38, 46 ।
- (22) सुत्तपाहुड, 18, बोधपाहुड, 54, शीलपाहुड, 24 ।
- (23) भावपाहुड, 137 ।
- (24) शीलपाहुड, 24 ।
- (25) मोक्षपाहुड, 24, शीलपाहुड 9 ।
- (26) प्रवचनसार, 30, पंचास्तिकाय, 33 ।
- (27) शीलपाहुड, 21 ।
- (28) समयसार, 130-131, प्रवचनसार, 10 ।
- (29) शीलपाहुड, 26 ।
- (30) पंचास्तिकाय, 48 ।
- (31) बोधिपाहुड, 41-43 ।
- (32) बोधिपाहुड, 3-4 ।
- (33) प्रवचनसार, 66 ।
- (34) बारसअणुवेक्खा, 53 ।
- (35) भावपाहुड, 44-53, 88 ।
- (36) समयसार, 59, 60 ।
- (37) समयसार, 146 ।

समभाव

सत्तूमित्ते य समा पसंसणिदाअलद्धिसमा ।

तणकणए समभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ 47 ॥ बो. पा.

—एसा कहा गया है कि संन्यासी का जीवन शत्रु और मित्र में समान होता है, (उसका) प्रशंसा और निंदा में, लाभ और अलाभ में, तृण और सुवर्ण में (भी) समभाव होता है ।

• • •

णिदाए य पसंसाए दुक्खे य सुहएसु य ।

सत्तूणं खेव बंधूणं चारित्तं समभावदो ॥ 72 ॥ मो. पा.

—निंदा और प्रशंसा में, दुःखों और सुखों में तथा शत्रुओं और मित्रों में समभाव रखने से ही चारित्र्य होता है ।

कुन्दकुन्द साहित्य में सर्वज्ञ का स्वरूप

—पण्डित रतनचन्द्र भारिल्ल



धर्म का मूल सर्वज्ञ है। सर्वज्ञ की यथार्थ समझ और श्रद्धा के बिना धर्म का अंकुर उत्पन्न नहीं होता। जिस प्रकार जड़ (मूल) के बिना वृक्ष का अस्तित्व संभव नहीं है, उसी प्रकार सर्वज्ञ की श्रद्धा के बिना धर्मप्राप्ति संभव नहीं है। इसीलिए आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने सच्चे देव, शास्त्र, गुरु के श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन को ही धर्म का मूल कहा है।¹

अध्यात्म के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्दकुन्द के हृदय में भी सर्वज्ञ एवं सर्वज्ञस्वभावी आत्मा की अपरिमित महिमा थी। वे आत्मधर्म की प्राप्ति में सर्वज्ञ के यथार्थ ज्ञान व श्रद्धान को आवश्यक मानते थे। उनके प्रमुख पाँचों परमागमों में स्थान-स्थान पर सर्वज्ञ भगवान् को साक्षी के रूप में तो देखा ही जा सकता है, प्रसंगोपान्त सर्वज्ञ के स्वरूप की विस्तृत व्याख्या एवं सर्वज्ञता की सिद्धि करने में भी वे अग्रणी रहे हैं।

धर्म के मूलभूत कारण सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में अरहंत भगवान् के ज्ञान को आवश्यक बताते हुए वे लिखते हैं—

जो अरहंत को द्रव्यपने, गुणपने और पर्यायपने जानता है वह अपने आत्मा को जानता है और उसका मोह अवश्य लय को प्राप्त होता है।²

वे जानते थे कि देव-शास्त्र-गुरु में श्रद्धा रखनेवाले धार्मिक-जन आगम के दबाव से सर्वज्ञ की सत्ता स्वीकार तो कर लेते हैं परन्तु उनमें बहुसंख्यक ऐसे होते हैं जिन्हें हृदय से सर्वज्ञ का यथार्थ स्वरूप स्वीकृत नहीं हो पाता। अतएव उन्हें जहाँ भी अपने प्रतिपाद्य

विषय में भ्रवसर मिला, सर्वज्ञ के स्वरूप को सयुक्तिक समझाने का प्रयास किया है। जब तक सर्वज्ञ के स्वरूप की यथार्थ प्रतीति नहीं होती तब तक अपने सर्वज्ञस्वभावी भगवान् आत्मा की प्रतीति और प्राप्ति नहीं होती क्योंकि प्रतीति के बिना कोई भी व्यक्ति उसकी प्राप्ति का पुरुषार्थ नहीं करता। अतः सर्वप्रथम सर्वज्ञ का स्वरूप समझाकर उसकी प्रतीति कराई जाती है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने प्रवचनसार, नियमसार आदि ग्रन्थों में यथास्थान सर्वज्ञ का एवं सर्वज्ञस्वभावी आत्मा का विस्तृत विवेचन किया है। उनके टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र, आचार्य जयसेन और मुनिराज पद्मप्रभमलधारी देव ने भी उनके मूलभूत संक्षिप्त सूत्रात्मक कथनों का नाना युक्तियों और उदाहरणों से सुगठित गद्य और सरस पद्यों में अच्छा स्पष्टीकरण किया है जो मूलतः द्रष्टव्य है।

नियमसार ग्रन्थ के शुद्धोपयोग अधिकार में केवलज्ञान के स्वरूप का कथन करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—

त्रिकालस्वभावी समस्त मूर्त-अमूर्त, चेतन-अचेतन द्रव्यों को अर्थात् स्वद्रव्य को तथा समस्त परद्रव्यों को निरन्तर देखने-जाननेवाले अरहंत भगवान् का केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है।³

इसी बात को प्रवचनसार के ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन अधिकार में कहा है—जो ज्ञान अमूर्त को मूर्त पदार्थों में भी अतीन्द्रिय (सूक्ष्म) और प्रच्छन्न पदार्थों को अर्थात् सम्पूर्ण स्व एवं पर पदार्थों को देखता है वह ज्ञान प्रत्यक्ष है।⁴

नियमसार ग्रन्थ की 166 और 169वीं गाथा के द्वारा स्वयं कुन्दकुन्दाचार्य ने निश्चय-व्यवहार नयों को निरपेक्ष दृष्टि से देखने पर उत्पन्न होनेवाले संदेह का समाधान करते हुए उनकी सापेक्षता की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है। वे कहते हैं—

निश्चय से केवली भगवान् केवल आत्मस्वरूप को ही देखते हैं, लोकालोक को नहीं—यदि कोई ऐसा कहे तो भी कोई दोष नहीं है।⁵ व्यवहार से केवली भगवान् मात्र लोकालोक को ही जानते-देखते हैं, आत्मा को नहीं, यदि कोई ऐसा कहे तो भी उसे कोई दोष नहीं है।⁶

ज्ञान जीव का स्वरूप है, इसलिए आत्मा-आत्मा को अर्थात् स्वयं को जानता है। यदि ज्ञान आत्मा (स्वयं) को न जाने तो ज्ञान आत्मा से पृथक् सिद्ध होगा तथा यदि वह केवलज्ञान पर को न जाने तो उसे दिव्य कौन कहेगा? अतः 'स्वाश्रितो निश्चयः' की अपेक्षा यदि निश्चय से केवल आत्मा को जाननेवाला कहा जाय तो भी कोई दोष नहीं है तथा 'पराश्रितो व्यवहारः' की अपेक्षा व्यवहार से केवलज्ञान को पर को जाननेवाला कहा जाय तो भी कोई दोष नहीं है। अतः यह संदेह नहीं करना चाहिए कि केवलज्ञान लोकालोक को नहीं जानता अथवा निजात्मा को नहीं जानता।

नियमसार की ही 159वीं गाथा में स्पष्ट कहा है—

जाणदि पस्सदि सव्वं, ववहारणएण केवलीभगवं ।
केवलराणी जाणदि, पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥

—व्यवहारनय से केवली भगवान् सब जानते हैं और देखते हैं तथा निश्चय से केवलज्ञानी केवल आत्मा को (स्वयं को) ही जानते-देखते हैं ।

यहाँ केवलज्ञानी के स्व-पर स्वरूप का प्रकाशकपना कथंचित् कहा है । व्यवहारनय से ये भगवान् घातिया कर्मों के नाश से प्राप्त सकल विमल केवलज्ञान और केवलदर्शन द्वारा त्रिलोकवर्ती तथा त्रिकालवर्ती सचराचर द्रव्य-गुण-पर्यायों को एक समय में जानते और देखते हैं तथा शुद्ध निश्चयनय से सर्वज्ञ वीतराग परमेश्वर के शुद्धोपयोग में परद्रव्य के ग्राहकत्व, दर्शकत्व, ज्ञायकत्व आदि के विविध विकल्पों का अभाव होने से वे स्वयं कार्यपरमात्मा होते हुए भी त्रिकाल निरूपाधि, निरवधि, नित्य शुद्धस्वरूप अपने सहज ज्ञान व सहज दर्शन से निज कारण परमात्मा को ही जानते-देखते हैं ।

उपर्युक्त दोनों ही कथन केवल 'स्वाश्रितो निश्चयः' एवं 'पराश्रितो व्यवहारः' इस शास्त्र-वचन के अनुसार सापेक्ष जानना चाहिए ।

इससे स्पष्ट फलित होता है कि केवली की परपदार्थज्ञता असत्यार्थ नहीं है, काल्पनिक नहीं है ।

नियमसार गाथा 172 की तात्पर्यवृत्ति टीका में कहा है—विश्व को निरन्तर जानते हुए और देखते हुए भी केवली की मनःप्रवृत्ति का अभाव होने से उनके इच्छापूर्वक वर्तन नहीं होता ।⁷ प्रवचनसार गाथा 200 की तत्त्वप्रदीपिका टीका में कहा है—एक ज्ञायकभाव का समस्त ज्ञेयों को जानने का स्वभाव होने से मानो वे द्रव्य ज्ञायक में उत्कीर्ण हो गये हों, चित्रित हो गये हों, भीतर घुस गये हों, कीलित हो गये हों, डूब गये हों, समा गये हों, प्रतिबिम्बित हो गये हों ऐसे अगाध और गम्भीर तथा क्रमशः प्रवर्तमान अनंत भूतवर्तमानभावी विचित्र पर्याय समूहवाले द्रव्यों की ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध की अनिवार्यता के कारण वह शुद्धात्मा एक क्षण में ही प्रत्यक्ष करता है ।⁸

इसी बात को प्रवचनसार की 32वीं गाथा की तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार कहा है—एकसाथ ही सर्व पदार्थों के समूह का साक्षात्कार करने से, ज्ञप्ति परिवर्तन का अभाव होने से समस्त परिच्छेद्य आकारों रूप परिणत होने के कारण जिसके ग्रहणत्याग क्रिया का अभाव हो गया है तथा पररूप से—आकारान्तररूप से परिणत न होता हुआ सर्वप्रकार से अशेष विश्व को देखता-जानता है ।⁹

निश्चय से पर को न जानने का तात्पर्य उपयोग का पर के साथ तन्मय न होना है । प्रवचनसार की गाथा 52 की तत्त्वप्रदीपिका टीका के चौथे कलश में स्पष्ट कहा है—जिसने कर्मों को छेद डाला है, वह आत्मा भूत-भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालों

की समस्त पर्यायों से युक्त समस्त विश्व को एक ही साथ जानता हुआ भी मोह के अभाव के कारण पररूप परिणमित नहीं होता, इसलिए अब जिसके समस्त ज्ञेयाकारों को अत्यन्त विकसित ज्ञप्ति के विस्तार से स्वयं पी गया है—ऐसे तीन लोक के पदार्थों को पृथक् और अपृथक् प्रकाशित करता हुआ वह ज्ञानमूर्ति मुक्त ही रहता है ।

आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार के ज्ञानाधिकार में शुद्धोपयोग का फल बतलाते हुए आत्मा के सर्वज्ञ होने की चर्चा विस्तार से की है । उन्होंने लिखा है—शुद्धोपयोगी आत्मा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय और मोहनीय कर्मरूपी रज को दूर करके स्वयं ही ज्ञेयभूत पदार्थों के अन्त को प्राप्त करता है अर्थात् वह सब लोकालोक को जान लेता है ।¹⁰

आगे सर्वज्ञता की व्याख्या करते हुए आचार्य कहते हैं कि केवलज्ञानरूप परिणामते हुए केवली भगवान् के निश्चय से अर्थात् वस्तुतः सब द्रव्य तथा उनकी तीनों कालों की सम्पूर्ण पर्यायें प्रत्यक्ष हैं, प्रकट हैं क्योंकि उन केवली भगवान् के सब तरफ से कर्मों का आवरण दूर हो जाने के कारण अखण्ड-अनंत शक्ति से पूर्ण आदि-अन्त-रहित असाधारण केवलज्ञान प्रकट हो गया है । इस कारण उनके एक ही समय में सब द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव ज्ञानरूपी भूमि में प्रत्यक्ष भलकते हैं ।¹¹

इसी क्रम में आगे केवलज्ञान का सर्वगतत्व-सर्वव्यापकत्व सिद्ध करते हुए कहा गया है—आत्मा ज्ञानप्रमाण है, ज्ञेयप्रमाण है, ज्ञेय लोकालोक है, अतः ज्ञान सर्वव्यापक है ।

देखो, द्रव्य अपने गुण-पर्यायों से अनन्य (अभिन्न) होता है, इसलिए आत्मा ज्ञानगुण से हीनाधिक नहीं है, ज्ञानप्रमाण ही है और ज्ञेयों का अवलम्बन करनेवाला ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है तथा ज्ञेय तो समस्त लोकालोक है ही । अतः सर्व आवरण क्षय होते ही ज्ञान सबको जानने लगता है, फिर कभी भी उसके जाननेरूप क्रिया से च्युत नहीं होता । इसलिए ज्ञान सर्वव्यापक है ।¹²

आचार्य अब यह सिद्ध करते हैं कि द्रव्यों की अतीत और अनागत पर्यायें भी तात्कालिक पर्यायों की भाँति पृथक् रूप से ज्ञान में वर्तती हैं । वे लिखते हैं—उन जीवादि द्रव्यों की विद्यमान और अविद्यमान पर्यायें तात्कालिक पर्यायों की भाँति विशिष्टतापूर्वक अपने भिन्न-भिन्न स्वरूप में ज्ञान में वर्तती हैं ।¹³

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि ज्ञान नष्ट और अनुत्पन्न पर्यायों को वर्तमानकाल में कैसे जान सकता है ? समाधान यह है कि जब अल्पजजीव का ज्ञान भी नष्ट और अनुत्पन्न वस्तुओं का चिन्तन कर सकता है, अनुमान के द्वारा जान सकता है, तदाकार हो सकता है, तब फिर पूर्ण ज्ञान नष्ट व अनुत्पन्न पर्यायों को क्यों न जान सकेगा ? ज्ञान में ऐसी शक्ति है कि वह चित्रपट की भाँति अतीत और अनागत पर्यायों को भी जान सकता है तथा आलेख्यत्वशक्ति की भाँति द्रव्य की श्रेयत्व शक्ति भी ऐसी है कि उनकी अतीत व अनागत पर्यायें ज्ञान में ज्ञेय रूप से ज्ञात होती हैं ।

इस प्रकार आत्मा की अद्भुत ज्ञानशक्ति और द्रव्यों की अद्भुत ज्ञेयत्व शक्ति के कारण केवलज्ञान में समस्त द्रव्यों की तीनों काल की पर्यायों का एक ही समय में भासित होना अविरोद्ध है ।¹⁴

अब अविद्यमान (अतीत व अनागत) पर्यायों की भी कथंचित् (किसी एक अपेक्षा से) विद्यमानता बतलाते हैं—जो पर्यायों वास्तव में उत्पन्न होकर नष्ट हो गई हैं तथा जो अभी उत्पन्न ही नहीं हुई हैं, वे सब अविद्यमान पर्यायों ज्ञान में सीधी ज्ञात होने से केवलज्ञान-प्रत्यक्ष हैं ।

यद्यपि वे अनुत्पन्न और विनष्ट पर्यायों भी केवलज्ञान में वर्तमानवत् विद्यमान हैं, यह बात जनसामान्य के चित्त में सहज स्वीकृत नहीं होती, परन्तु यदि अनुत्पन्न व नष्ट पर्यायों केवलज्ञान में प्रत्यक्ष न हों तो उस ज्ञान को दिव्य कौन कहेगा ? पराकाष्ठा को प्राप्त ज्ञान के लिए यह सब संभव है ।

अनन्त महिमावन्त केवलज्ञान की यह दिव्यता है कि वह अनन्त द्रव्यों की समस्त पर्यायों को सम्पूर्णतया एक ही समय प्रत्यक्ष जानता है ।

जो ज्ञान अप्रदेश को, सप्रदेश को, मूर्त को, और अमूर्त को तथा अनुत्पन्न और नष्ट पर्याय को जानता है वह ज्ञान अतीन्द्रिय कहा गया है ।¹⁵

आगे पुनः क्षायिकज्ञान को परिभाषित करते हुए आचार्य कहते हैं—जो ज्ञान पूरी तरह से वर्तमान, अतीत, अनागत, विचित्र, विषम सब पदार्थों को एकसाथ जानता है उस ज्ञान को क्षायिक कहा है ।¹⁶

आगे पुनः इसी बात को विशेष स्पष्ट करते हुए नाना युक्तियों से सर्वज्ञता का स्वरूप निर्धारित करते हुए कहते हैं—जो तीनों लोकों में स्थित, त्रिकालवर्ती पदार्थों को एकसाथ नहीं जानता वह अनन्त पर्यायों सहित एक द्रव्य को भी नहीं जान सकता तथा जो अनन्त पर्यायों सहित एकद्रव्य को नहीं जान सकता, वह समस्त अन्य द्रव्यों को कैसे जान सकता है ?¹⁷

जिनेन्द्रदेव का ज्ञान त्रिकालवर्ती सर्वत्र विद्यमान विषम और विचित्र पदार्थों को एकसाथ जानता है, ज्ञान का यह माहात्म्य आश्चर्यजनक है ।

क्षायिकज्ञान की उक्त व्याख्या से यह स्पष्ट है कि केवलज्ञान सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होता है । वर्तमान की तरह वह अतीत व अनागत पर्यायों को भी जानता है । एक द्रव्य में जितनी अतीत, अनागत और वर्तमान अर्थपर्यायें होती हैं उन सबका समुदाय ही तो द्रव्य होता है । अतः उन सबको जाने बिना एक द्रव्य का पूरा ज्ञान नहीं होता । पूर्ण ज्ञान वही है जो सबको जानता है ।

वस्तुव्यवस्था के नियमानुसार सत् का कभी विनाश नहीं होता और न सर्वथा असत् का उत्पाद होता है । अतः द्रव्यरूप से अतीत व अनागत पर्यायों समुद्र की लहरों

की भाँति द्रव्य में विलीन हो जाने पर भी सत् हैं और जो सत् हैं वे सब ज्ञेय हैं, अतः सर्वज्ञ के ज्ञान की विषय हैं ।

प्रवचनसार का ज्ञानाधिकार समाप्त करते हुए कुन्दकुन्द के प्रमुख टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र ने अपने कलश में कहा है—जिसने कर्मों को छेद डाला है वह आत्मा भूत, भविष्यत् और वर्तमान समस्त विश्व को अर्थात् तीनों कालों की पर्यायों से युक्त समस्त पदार्थों को एक ही साथ जानता हुआ भी मोह के अभाव के कारण पररूप परिणमित नहीं होता, इसलिए अब जिसके समरूप ज्ञेयाकारों को अत्यन्त विकसित ज्ञप्ति के विस्तार से स्वयं पी गया है—ऐसे तीन लोक के पदार्थों को पृथक् और अपृथक् प्रकाशित करता हुआ वह ज्ञानमूर्ति मुक्त ही रहता है ।¹⁸

केवलज्ञानरूपी तीसरे नेत्र से जिनकी महिमा प्रकट है, जो तीन लोक के गुरु हैं तथा जिनका अनन्त धाम तेज या बल है, ऐसे तीर्थनाथ जिनेन्द्र भगवान् लोकालोक को अर्थात् स्व-पर को एवं समस्त चेतन-अचेतन पदार्थों को सम्यक् प्रकार से जानते हैं ।¹⁹

इस संदर्भ में जितना अधिक चिन्तन-मनन एवं अध्ययन किया जाय वह उतना ही अधिक उपयोगी है ।

1. श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागम तपो भूताम् ।
त्रिमूढापोढमष्टांग सम्यग्दर्शनमस्ययम् ॥ 4 ॥ रत्नकरण्ड श्रावकाचार
2. जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहि ।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥ 80 ॥ प्रवचनसार
3. मुत्तममुत्तं दव्वं चैयणमिदरं सगं च सव्वं च ।
पेच्छंतस्स दु णाणं पच्चक्खमण्णिदियं होइ ॥ 167 ॥ नियमसार
4. जं पेच्छदो अमुत्तं मुत्तेसु अदिदियं च पच्छण्णं ।
सकलं सगं च इदरं तं णाणं हवदि पच्चक्खं ॥ 54 ॥ प्रवचनसार
5. अप्पसरूवं पेच्छदि लोयालोयं ण केवली भगवं ।
जदि कोइ भणदि एवं, तस्स य किं दूसणं होइ ॥ 166 ॥ नियमसार
6. लोयालोयं जाणदि, अप्पाणं णेव केवली भगवं ।
जदि कोइ भणदि एवं, तस्स य किं दूसणं होइ ॥ 169 ॥ नियमसार
7. विश्वमश्रातं जानत्रपि पश्यन्तपि वा मनःप्रवृत्तेरभावादीहापूर्वकं वर्तनं न भवति तस्य केवलिनः ।
8. अथ एकस्य ज्ञायकभावस्य समस्त ज्ञेयभावस्वभावत्वात् प्रोत्कीर्णं लिखित निखात् कीलित मज्जित समावतित प्रतिबिम्बितवतत्रक्रमप्रवृत्तानन्तभूतभवद्भाविविचित्र-पर्यायप्राग्भारमगाघस्वभावं गंभीरं समस्तमपि द्रव्यजातमेकक्षण एव प्रत्यक्ष यत् ।

9. युगपदेव सर्वार्थं सार्थं साक्षात् कारणेन ज्ञप्ति परिवर्तनाभावात् संभावित ग्रहण मोक्षेण क्रिया विरायः प्रथममेव समस्त परिच्छेद्याकार परिणतत्वात् पुनः परमाकारान्तर परिणममान समन्ततोऽपि विश्वशेषं पश्यति जानाति च एवं अस्यादयन्त विविकतं त्वमेव ।
10. उवन्नोग विसुद्धो जो विगदावरणंतरायमोहरओ ।
भूदो सयमेवादा जादि परं रोयभूदाणं ॥ 15, प्र. सा.
11. परिणमदो खलु णाणं पच्चक्खा सव्वदव्वपज्जाया ।
सो रोव ते विजाणदि ओग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं ॥ 21, प्र. सा.
12. आदा णाणपमाणं णाणं रोयप्पमाणमुद्दिट्ठं ।
रोयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं ॥ 23, प्र. सा.
13. तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं ।
वट्टन्ते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं ॥ 37, प्र. सा.
14. गाथा 37 के भावार्थं से ।
15. अपदेसं सपदेसं मुत्तममुत्तं च पज्जयमजादं ।
पलयं गदं च जाणदि तं णाणमदिदियं भणियं ॥ 41, प्र. सा.
16. जं तक्कालियमिदरं जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं ।
अत्थं विचित्तविसमं तं णाणं खाइयं भणियं ॥ 47, प्र. सा.
17. जोण ण विजाणदि जुगवं अत्थे तित्कालिके तिहुवणत्थे ।
णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेकं वा ॥ 48, प्र. सा.
दव्वं अणंतपज्जयमेक्कमणंताणि दव्वजादाणि ।
ण विजाणदि जदि जुगवं कध सो सव्वाणि जाणादि ॥ 49 ॥
उप्पज्जदि जदि णाणं कमसो अत्थे पडुच्च णाणिस्स ।
तं रोव ह्वदि णिच्चं ण खाइगं रोव सव्वगदं ॥ 50 ॥
18. प्र. सा. कलश 4, आ. अमृतचन्द्र ।
19. सम्यग्वर्ती त्रिभुवनगुरुः शाश्वतानन्तधामा
लोकालोकौ स्वपरमखिलं चेतनाचेतनं च ।
तार्तीयं यन्नयनमपरं केवलज्ञानसंज्ञं
तेनेवायं विदितमहिमा तीर्थनाथो जिनेन्द्र ॥ नियमसार कलश, 283



सामायिक

जो समो सव्वभूदेसु, थावरेसु तसेसु वा ।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे । 126 ।

—जो स्थावर और त्रस (अर्थात् छोटे तथा बड़े) सब जीवों के प्रति समता-भाव रखता है, उसके सामायिक स्थायी होता है, ऐसा केवली के शासन में कहा है ।

जस्स रागो दु दोसो दु, विर्याडि ण जणेदि दु ।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे । 128 ।

—जिसके राग और द्वेषरूप विकार उत्पन्न नहीं होता उसके सामायिक स्थायी होता है, ऐसा केवली के शासन में कहा है ।

नियमसार

आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा प्रतिपादित अमृतकुम्भ और विषकुम्भ

—पं० जगन्मोहनलाल शास्त्री



यह बात निःसंशय है कि अध्यात्म का अमृत तत्त्वदृष्टिवालों को ही पच सकता है। वह गरिष्ठ है, उसके लिए पाचनशक्ति चाहिए। आत्महित की दृष्टिवालों के लिए वह पाथेय है। अनात्मदृष्टियों में मन्दकषायवाले जिज्ञासु उसका लाभ उठा सकते हैं पर जिनकी कषाय मन्द नहीं हुई वे इसका विपरीत दृष्टि से अपनी कषाय-पोषण करनेवाला अर्थ ही लगाकर अपना व पर का अहित करते हैं।

शिष्य यदि अहम्मन्य हो तो गुरु का उपदेश उसे लगता नहीं है। वह गुरु के विपरीत ही चलता है और उन्हें भी अपवादित करता है।

समयसार के मोक्षाधिकार की अन्तिम गाथाएँ बहुत महत्त्वपूर्ण तत्त्व का उद्घाटन करती हैं।

यह सामान्य नियम है कि छठे-सातवें गुणस्थानवाले मुनिजन कभी प्रमाददशा में कुछ व्रतों में दोष भी उत्पन्न करनेवाले होते हैं। वे अपने को दोषरहित बनाने के लिए प्रतिक्रमणादि निम्न क्रियाएँ करते हैं—

1. प्रतिक्रमण, 2. प्रतिशरण, 3. परिहार, 4. धारणा, 5. निवृत्ति, 6. निन्दा, 7. गर्हा और 8. शुद्धि। इनका अर्थ निम्न प्रकार है।

1. **प्रतिक्रमण**—किये हुए या होगये दोषों का निराकरण कर पूर्व जैसी स्थिति में लौट आना।

2. **प्रतिशरण**—चारित्र्य की शरण को प्राप्त करना या पंचपरमेष्ठी की शरण ग्रहण करना।

3. परिहार — रागादि दोषों का निवारण करना ।
4. धारणा — चित्त को स्थिर करना ।
5. निवृत्ति — विषय-कषायों में जानेवाली प्रवृत्ति को रोककर उससे अपने को पृथक् करना ।
6. निन्दा — आत्मसाक्षीपूर्वक अपनी गलतियों पर स्वयं अपनी निन्दा करना ।
7. गर्हा — अपने आचार्य के समक्ष सम्पूर्ण दोषों से रहित होकर सरल चित्त से कुछ न छिपाते हुए अपने दोषों का प्रकाशन करना ।
8. शुद्धि — गुरु द्वारा प्रदत्त प्रायश्चित्त द्वारा आत्मशुद्धि करना ।

ये आठ क्रियाएँ साधक के परिणामों को विशुद्ध करके उसे पुनः अपने व्रतपालन में निःशुल्य बनाती हैं । दोषों के निराकरण के लिए प्रायश्चित्तादि आठ क्रियाओं का प्रयोग साधु के लिए अमृतसमान है तथा इनके विपरीत आचरण करना साधु के लिए विषरूप है । अर्थात् जहाँ प्रतिक्रमणादि क्रियाएँ साधु-जीवन के लिए जीवनसाथी हैं वहाँ उनके विपरीत ये आठ क्रियाएँ साधु-जीवन का घात करनेवाली विषाक्त क्रियाएँ हैं ।

मुनि के चारित्र-प्ररूपक सभी आचार-ग्रन्थों में इन प्रतिक्रमणादि क्रियाओं का विधान है । मुनि के लिए छह आवश्यक क्रियाओं का प्रतिपादन भी मूलाचार आदि में प्ररूपित है जिन्हें उन्हें प्रतिदिन करना ही चाहिए । वे हैं—

1. समता (सामायिक)
2. वन्दना (पंचपरमेष्ठी को नमस्कार)
3. स्तुति (पंचपरमेष्ठी का गुणानुवाद)
4. प्रतिक्रमण
5. स्वाध्याय (आत्म व पर के हितार्थ आगम का पठन-पाठन)
6. कायोत्सर्ग (देह के ममत्व का सर्वथा त्याग कर आत्मध्यान करना)

इन छह आवश्यक कार्यों में उन आठों क्रियाओं का प्रकारान्तर से संक्षेप में समावेश है । आवश्यक का अर्थ ही है जरूरी क्रियाएँ । मुनि इन्हें बिना अन्तर डाले प्रतिदिन करते ही हैं । यदि वे इन आवश्यकों को न करें तो उनका मुनिपना सदोष है । यह तो सहज ही समझ में आ जाता है कि दोषों का निराकरण न करें तो व्रत तो सदोष होंगे ही पर साथ ही यदि वे आवश्यक क्रियाएँ अनावश्यक कर दें तो मुनिव्रत ही समाप्त हो जायगा ।

इतने आवश्यक निर्देश के बाद भी आचार्य कुन्दकुन्द समयसार, मोक्षाधिकार की दो गाथाओं में लिखते हैं—

प्रतिक्रमणादि क्रियाएँ विषकुम्भ हैं और अप्रतिक्रमणादि क्रियाएँ अमृतकुम्भ हैं । प्रथम ही प्रथम इन गाथाओं का पढ़नेवाला कंपायमान हो जाता है कि आचार्य कुन्दकुन्द कैसे सभी आचार-शास्त्रों के विरुद्ध ऐसा प्रतिपादन करते हैं । वे गाथाएँ ये हैं—

पडिकमणं - पडिसरणं - पडिहरणं - धारणा गणयत्ती य ।

गिदा-गरुहा-सोही अटठविहो होई विसकुम्भो ॥ 306 ॥

अपडिकमणं - अप्पडिसरणं - अप्पडिहारो अधारणा चव ।

अगणयत्ती य अगिदागरुहासोही अमयकुम्भो ॥ 307 ॥

पाठक इन गाथाओं का अर्थ जैसा कि ऊपर बताया है स्वयं विचार करें । वह इतना विरुद्ध प्रतीत होता है कि इसे मुनिजन आचरित करें तो उनका मुनिपना ही समाप्त हो जाय । प्रश्न है कि यहाँ कुन्दकुन्द भगवान् का क्या आशय है ? इसका रहस्य श्री अमृतचन्द्राचार्य व श्री जयसेनाचार्य ने बहुत स्पष्टतया खोजा है ।

अप्रतिक्रमण माने प्रतिक्रमण न करना, यह दो प्रकार का हो सकता है । प्रथम— जो अपराध करे (दोष लगावे) किन्तु उसके निराकरणरूप प्रतिक्रमण न करे । दूसरा— अपराध ही न करे । ऐसा साधु प्रतिक्रमण क्यों करेगा ? दोनों में अप्रतिक्रमण है ।

इन दोनों में प्रथम, अपराधी द्वारा किया जानेवाला अप्रतिक्रमण विषकुम्भ ही है । पर अपराध न करे तो अप्रतिक्रमण सर्वथा उपादेय है । दृष्टान्त से समझा जाय—जो किसी का अपराध करे और क्षमा न माँगे तो यह 'अक्षमा का भाव' स्वयं में अपराध है । पर जो किसी का अपराध ही न करे तो उसे किसी से क्षमा माँगने की जरूरत नहीं है । अतः प्रथम 'अक्षमा का भाव' अपराध है पर द्वितीय 'अक्षमा का भाव' स्वयं अपराध से दूर होने से अक्षमारूप प्रशस्तभाव है ।

टीकाकारों ने इसे इस रूप में उल्लिखित किया है—प्रथम पक्ष में तो अपराध कर उसका निराकरण न करना, अप्रतिक्रमण करना अपराध है ।

द्वितीय पक्ष में प्रतिक्रमण करना व्यवहार से उपादेय है ।

तृतीय पक्ष में प्रतिक्रमण, अप्रतिक्रमण से ऊपर उठकर जो 'अप्रतिक्रमण' है वह तीसरी भूमिका है जो अमृतकुम्भ है ।

यद्यपि दूसरा पक्ष व्यवहार से उपादेय है पर निश्चयनय से तृतीय भूमिका ही अमृतकुम्भ है । उसके समक्ष दूसरी भूमिका यह बतलाती है कि आपने अपराध किया इससे प्रतिक्रमण आदि करना पड़ा । यदि अपराध ही न करते तो प्रतिक्रमण की आवश्यकता ही नहीं रहती तो वही अमृतकुम्भ होता पर इसी तीसरी विशुद्ध भूमिका की अपेक्षा वह सापराधी का प्रतिक्रमण विषकुम्भ ही है । कारण वह आपके अपराध की सूचना दे रहा है । टीकाकार आचार्य जयसेन के शब्द पढ़िये—

अप्रतिक्रमणं द्विविधं-ज्ञानिजनाश्रितं अज्ञानिजनाश्रितं चेति अज्ञानिजनाश्रितं सद्-प्रतिक्रमणं तद्विषयकषायपरिणतिरूपं भवति । ज्ञानिजीवाश्रितमप्रतिक्रमणं तु शुद्धात्मसम्यक्-श्रद्धानज्ञानानुष्ठान-लक्षणत्रिगुप्तिरूपम् । तच्च ज्ञानिजनाश्रितमप्रतिक्रमणं सरागचारित्र-लक्षणं शुभोपयोगापेक्षया यद्यप्यप्रतिक्रमणं भण्यते तथापि वीतराग-चारित्र्यापेक्षया तदेव निश्चयप्रतिक्रमणम् । समस्त शुभाशुभास्रव-वदोषनिराकरणरूपत्वात् ।

इसका अर्थ यह है कि अप्रतिक्रमण दो प्रकार का है । प्रथम—ज्ञानिजनाश्रित और दूसरा—अज्ञानिजनाश्रित । इन दोनों में अज्ञानिजनाश्रित अप्रतिक्रमण तो विषय-कषाय की परिणतिरूप है । किन्तु ज्ञानिजनाश्रित अप्रतिक्रमण तो शुद्धात्मा के समीचीन श्रद्धानज्ञान-अनुष्ठानरूप त्रिगुप्तिरूप है । ज्ञानिजीवाश्रित अप्रतिक्रमण यद्यपि सरागचारित्ररूप शुभोपयोग रूप है लक्षण जिसका उस शुभोपयोग की अपेक्षा तो अप्रतिक्रमण कहा जाता है, तथापि वीतराग-चारित्र्यरूप होने से वह अप्रतिक्रमण 'निश्चयप्रतिक्रमण' स्वरूप है क्योंकि वह संवररूप है । सभी शुभ और अशुभ आस्रव के निराकरणरूप हैं । प्रकारान्तर से अज्ञानि-जनाश्रित अप्रतिक्रमण स्वयं अशुभरूप आस्रव का कारण होने से विषकुम्भ ही है ।

दूसरा—अपराधप्रक्षालनरूप प्रतिक्रमण शुभास्रवरूप है । ये दोनों यद्यपि स्वरूप से भिन्न-भिन्न हैं अतः व्यवहार से अशुभास्रव की अपेक्षा शुभास्रव कथंचित् उपादेय है तथापि तीसरी भूमिका वीतराग चारित्र्य की है जो दोनों आस्रवों के अभावरूप, संवररूप है ।

शुभ और अशुभ दोनों आस्रव शुभाशुभकर्मबन्ध के कारण हैं अतः संसार के ही कारण हैं । उससे शुभाशुभगतिरूप संसार रहेगा । मुक्ति तो आस्रवभाव के अभाव में होगी यह तात्पर्य लेकर ही निरास्रव दशा को अमृतकुम्भ और सास्रव दशा को विषकुम्भ कहा है ।

अमृतचन्द्राचार्य अपनी टीका के कलशों में इसे अधिक स्पष्ट करते हुए लिखते हैं (कलश 188)—यत्र प्रतिक्रमणमेव इत्यादि । जब यहाँ पर प्रतिक्रमण को ही विषकुम्भ कहा गया तब अज्ञानिजनाश्रित अप्रतिक्रमण सुधाकुम्भ कैसे हो सकता है ? यह बात सम्भने योग्य है । ऊपर की वीतरागचारित्र्य की अप्रतिक्रमणरूप भूमिका पर चढ़ने का उपदेश पाकर भी जन (सामान्य अज्ञानीजन) क्यों प्रमाद करता है, नीचे गिरता है । ऊपर की भूमिका का क्यों आश्रय नहीं करता, विपरीतार्थ क्यों ग्रहण करता है ?

प्रमादी शुद्ध भाव का धारक नहीं हो सकता, कारण उसके तो कषायभाव की ही गुरुता है अतः अपने आत्मरस से भरे हुए स्वभाव में ही मुनिजन नियम से स्थिर होकर निश्चय से मोक्ष पाते हैं ।

ग्रन्थों में सर्वत्र मोक्षमार्ग शुभाशुभ से परे वीतरागता रूप ही प्रतिपादित किया है अतः नीची भूमिका में शुभभाव को अशुभ की उपेक्षा कथंचित् उपादेय बताया है । इससे सांसारिक देव, चक्रवर्त्यादिक पद तो प्राप्त होते हैं पर निर्वाण नहीं (प्रवचनसार 6) ।

इसमें सराग चारित्र को देवादि पदप्राप्ति का कारण होने से अनिष्ट फलवाला ही लिखा है ।

मोक्ष की इच्छा करनेवाले मुनि के यद्यपि सरागचारित्र होता है और वह पापों को रोकता है तो भी देवादि गति का कारण होने से मोक्षार्थी को इष्ट नहीं है । वह वीतराग चारित्र पर चढ़ने के लिए ही सराग चारित्र की आराधना करता है और उसे प्राप्त कर मुक्त होता है । इसी अपेक्षा उसे कथंचित् उपादेय भी कहा है ।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य के गहनतम ग्रन्थों को पढ़ने के पूर्व अन्य अनुयोगों का भी स्वाध्याय करना चाहिए । ऐसा करने से ही अध्यात्मग्रन्थों का रहस्य समझ में आवेगा । आनन्द आयेगा । आत्मा पवित्र होगा । आशा है स्वाध्याय करनेवाले सज्जन उक्त अर्थ का अवलम्बन कर आचार्य कुन्दकुन्द के कथित रहस्य को अवश्य प्राप्त करेंगे ।



हिंसा

मरदु व जिवदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा ।
पयदस्स एत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदीसु ॥ 3·17 ॥ प्र.सा.

—दूसरा जीव या मरे या जीवित रहे, अयत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति (असावधानी से कार्य) करनेवाले के हिंसा निश्चित है ।

अज्भवसिदेण बंधो सत्ते मारेहि मा व मारेहि ।
एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स ॥ 262 ॥ स.सा.

—प्राणियों को मारो अथवा न मारो किन्तु (मारने के) विचारमात्र से ही (हिंसा होती है जिससे कर्म) बंध होता है । निश्चयनय से यह जीवों का कर्मबंध का संक्षेप है ।

आचार्य कुन्दकुन्द और यथार्थ-असद्भूत-व्यवहारनय

—डॉ० रतनचन्द्र जैन



आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में व्यवहारनय से जो निरूपण किया है उससे असद्भूत-व्यवहारनय के दो लक्षण सामने आते हैं—

1. किसी वस्तु पर अन्य वस्तु के धर्म का आरोप
2. वस्तु के परद्रव्यसम्बन्ध तथा परद्रव्याश्रितभाव का निरूपण

1. अन्य वस्तु के धर्म का आरोप

दो वस्तुओं में कोई निमित्तनैमित्तिकादि सम्बन्ध होने पर उनमें से किसी एक के धर्म का दूसरी पर आरोप करना उपचार कहलाता है। यह असद्भूत-व्यवहारनय का प्रसिद्ध लक्षण है। यह लक्षण आलापपद्धतिकार ने निम्नलिखित शब्दों में बतलाया है—
“अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणमसद्भूतव्यवहारः । असद्भूतव्यवहार एव उपचारः ।” अर्थात् एक वस्तु पर दूसरी वस्तु के धर्म का आरोप करना असद्भूतव्यवहार है। असद्भूतव्यवहार ही उपचार है। उपचार के कुछ नियम हैं। उन्हें स्पष्ट करते हुए आलापपद्धतिकार कहते हैं—“मुख्याभावेसति प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्तते ।” अर्थात् उपचार उसी धर्म का किया जा सकता है जो वस्तु में स्वतः न हो तथा वह तभी किया जा सकता है जब उपचार का कोई आधार (निमित्त) एवं प्रयोजन हो। जैसे—‘यह बालक सिंह है’ इस वाक्य में बालक पर सिंह के धर्म (सिंहत्व) का आरोप किया गया है। सिंहत्व बालक में स्वतः नहीं है तथा बालक और सिंह में क्रूरता और शूरता का सादृश्य सम्बन्ध होने के कारण आरोप का आधार भी है तथा आरोप के द्वारा बालक में क्रौर्य-शौर्य

आदि के अतिशय की व्यंजना करने का प्रयोजन भी है। इस प्रकार यहाँ उपचार के सभी नियम घटित होने से उपचार संभव हुआ है।

इसी प्रकार 'अन्न ही प्राण है' इस उक्ति में कारण-कार्य सम्बन्ध के आधार पर अन्न पर प्राणों का आरोप है। 'जीव वर्णादिमान् है' इस कथन में जीव के साथ शरीर का संश्लेष सम्बन्ध होने से शरीर के वर्णादि धर्म जीव पर आरोपित किये गये हैं। अतः ये कथन उपचार हैं। पुद्गल कर्मों का निमित्त होने से जीव पर पुद्गल कर्मों के कर्तृत्व का आरोप कर 'जीव पुद्गल कर्मों का कर्ता है' ऐसा कहना भी उपचार है। घृतसंयोग के कारण मिट्टी के घड़े को घी का घड़ा कहना भी उपचार है क्योंकि इस कथन में मृत्तिका पर घृतत्व का आरोप है।

सार यह कि उपचार किसी न किसी वास्तविक सम्बन्ध पर आश्रित होता है, जैसा कि आलापपद्धतिकार ने कहा है—“सोऽपि सम्बन्धाविनाभावः, संश्लेषः सम्बन्धः, परिणामपरिणामिसम्बन्धः श्रद्धाश्रद्धेयसम्बन्धः, ज्ञानज्ञेयसम्बन्धः, चारित्रचर्या-सम्बन्धश्चेत्यादिः।”

काव्यशास्त्र में भी सम्बन्धविशेष को ही उपचार का आधार माना गया है, जैसा कि काव्यप्रकाशकार के निम्न शब्दों से स्पष्ट है—

“क्वचित्तादर्थ्यादुपचारः यथा इन्द्रार्था स्थूणा इन्द्रः। क्वचित् स्वस्वामिभावात् यथा राजकीयः पुरुषो राजा। क्वचिदवयवावयविभावात् यथा अग्रहस्त इत्यत्राग्रमात्रेऽवयवे हस्तः। क्वचित् तात्कर्म्यात् यथा अतक्षा तक्षा” (का. प्र., द्वि. पु.)। अर्थात् कहीं तादर्थ्य के कारण उपचार होता है, जैसे—इन्द्र की पूजा के लिए बनायी गई स्थूणा को इन्द्र कहना। कहीं स्वस्वामिसम्बन्ध उपचार का आधार होता है, जैसे—राजा के विशेष कृपापात्र को राजा कहना। कहीं अवयव-अवयविसम्बन्ध के कारण उपचार किया जाता है, जैसे—हाथ के केवल अग्रभाग के लिए हस्त शब्द का प्रयोग करना। कहीं तात्कर्म्य सम्बन्ध के कारण उपचार होता है, जैसे—कोई दूसरी जाति का व्यक्ति बढ़ई का काम करने लगे तो उसे बढ़ई कहना।

आचार्य कुन्दकुन्द के निम्नलिखित निरूपण से उपचार का यह लक्षण प्रकट होता है—

जीवन्हि हेतुभूदे बंधेस्स दु पस्सिदूण परिणामं ।

जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमेत्तेण ॥ 105 ॥ स. सा.

अर्थात् जीव के शुभाशुभ भावों के निमित्त से कर्मबन्धरूप परिणाम होता है उसे देखकर 'जीव ने कर्म किये हैं' ऐसा उपचार-मात्र से कहा जाता है।

यहाँ आचार्यश्री ने जीव के शुभाशुभभावों और पुद्गलकर्मों में जो निमित्तनैमित्तिक-भाव होता है उसके आधार पर जीव पर कर्मों के कर्तृत्व का आरोप किये जाने को उपचार कहा है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने भी “ततो निमित्तनैमित्तिकभावमात्रेणैव कर्तृकर्मभोक्तृभोग्यत्व-व्यवहारः” (स. सा./आ. 349-355) कहकर जीव पर पुद्गल कर्मों के कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि के आरोप को निमित्तनैमित्तिकभाव पर ही आश्रित बतलाया है। यहाँ ‘व्यवहार’ शब्द उपचार के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

तात्पर्य यह है कि उपचार किसी न किसी वास्तविक सम्बन्ध पर आश्रित होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि उपचारात्मक कथन में जिस धर्म का उपचार या आरोप किया जाता है वह असत्य होता है किन्तु जिस सम्बन्ध पर वह आरोप आश्रित होता है वह सम्बन्ध वास्तविक होता है। जैसे ‘यह बालक सिंह है’ इस कथन में बालक पर आरोपित सिंहत्व धर्म बालक में असत्य है, किन्तु सिंह के साथ उसका क्रौर्य-शौर्यादि गुणों का सादृश्य सम्बन्ध वास्तविक है। इसी प्रकार ‘जीव कर्मकर्तृत्व’ धर्म असत्य है किन्तु पुद्गलकर्मों के साथ उसका निमित्तनैमित्तिकभाव वास्तविक है।

2. वस्तु के परद्रव्यसम्बन्ध तथा परद्रव्याश्रितभाव का कथन

वस्तु के परद्रव्यसम्बन्ध तथा परद्रव्याश्रितभाव का कथन आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि से असद्भूतव्यवहारनय का दूसरा लक्षण है। उपचार के लक्षण में हमने देखा कि दो वस्तुओं में निमित्तनैमित्तिक, संयोग, संश्लेष आदि कोई सम्बन्ध होने पर उनमें से किसी एक के धर्म का दूसरी पर आरोप करना उपचार कहलाता है, किन्तु जब स्वयं इन सम्बन्धों का कथन किया जायेगा तब वह उपचार नहीं कहलायेगा क्योंकि ये सम्बन्ध तो उन वस्तुओं में स्वतः होते हैं, इनका आरोप नहीं किया जाता। अब प्रश्न उठता है कि जब ये निमित्तनैमित्तिकादि सम्बन्ध उन वस्तुओं में स्वतः होते हैं जिनमें इनका कथन किया जाता है तो इनका कथन किस नय के अन्तर्गत होगा? वास्तविक होने से क्या इनका कथन निश्चयनय के अन्तर्गत होगा? इसका उत्तर यह है कि प्रत्येक वास्तविक धर्म का कथन निश्चयनय नहीं है अपितु वास्तविक होते हुए भी जो परमार्थभूत होता है उसका कथन निश्चयनय कहलाता है। वस्तु का वह मूल तत्त्व जिससे उसकी स्वसत्ता तथा अखंडता का निर्धारण होता है तथा जो विभिन्न गुण-पर्यायों के रूप में अभिव्यक्त होता है, ‘परमार्थ’ नाम से अभिहित होता है। उसी को ग्रहण करनेवाला ज्ञान एवं प्रतिपादित करनेवाला वचन निश्चयनय कहलाता है। कोई भी वस्तु किसी अन्य वस्तु की सत्ता का अंग नहीं होती इसलिए एक वस्तु का दूसरी वस्तु के साथ कोई भी सम्बन्ध परमार्थभूत नहीं होता। अतः भिन्न वस्तुओं में निमित्तनैमित्तिकादि सम्बन्ध निश्चयनय से न होकर व्यवहारनय से होते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार (गाथा 159) में केवली भगवान् को व्यवहारनय से सर्वज्ञ इसीलिए कहा है कि परद्रव्यों के साथ केवली का ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध यथार्थ होते हुए भी केवली और परद्रव्यों में तादात्म्यभाव या सत्तात्मक अभेद (एकवस्तुता) नहीं है, इसलिए उनका ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध परमार्थभूत न होने से निश्चयनयात्मक न होकर व्यवहारनयात्मक है। इसका स्पष्टीकरण आचार्य जयसेन ने निम्नलिखित शब्दों में किया है—

“किं च यदि व्यवहारेण परद्रव्यं जानाति तर्हि निश्चयेन सर्वज्ञो न भवतीति पूर्वपक्षे परिहारमाह—यथा स्वकीय सुखादिकं तन्मयो भूत्वा जानाति तथा बहिर्द्रव्यं न जानाति तेन कारणेन व्यवहारः ।” (स. सा./ता. वृ. 356-365) ।

अर्थात् ‘यदि केवली व्यवहारनय से परद्रव्य को जानते हैं तो वे निश्चयनय से सर्वज्ञ नहीं हैं’ इस प्रश्न का समाधान यह है कि जिस प्रकार वे अपने सुखादि को तन्मय होकर जानते हैं उस प्रकार परद्रव्य को परद्रव्यमय होकर नहीं जानते इसलिए उन्हें व्यवहारनय से सर्वज्ञ कहा गया है ।

श्री ब्रह्मदेव सूरि ने परमात्मप्रकाश (1.52) की टीका में इसका और अधिक खुलासा इस प्रकार किया है—

“कश्चिदाह—यदि व्यवहारेण लोकालोकं जानाति तर्हि व्यवहारनयेन सर्वज्ञत्वं न निश्चयनयेनेति । परिहारमाहयथा स्वकीयमात्मानं तन्मयत्वेन जानाति तथा परद्रव्यं तन्मयत्वेन न जानाति तेन कारणेन व्यवहारो भण्यते, न च परिज्ञानामावात् । यदि पुननिश्चयेन स्वद्रव्यवत्तन्मयो भूत्वा परद्रव्यं जानाति तर्हि परकीय सुखदुःखरागद्वेषपरिज्ञातो सुखी दुःखी रागी द्वेषी च स्यादिति महद्दूषणं प्राप्नोतीति ।”

अर्थात् कोई कहे कि यदि केवलज्ञानी आत्मा व्यवहार से लोकालोक को जानता है तो वह व्यवहारनय से सर्वज्ञ है, निश्चयनय से नहीं, इसका समाधान यह है कि केवलज्ञानी आत्मा जिस प्रकार स्वकीय आत्मा को तन्मय होकर जानता है उस प्रकार परद्रव्य को परद्रव्यमय होकर नहीं जानता, इसलिए व्यवहार से सर्वज्ञ कहलाता है, न जानने के कारण नहीं । क्योंकि यदि निश्चयनय से अर्थात् स्वात्मा के समान परद्रव्य को भी परद्रव्यमय होकर जाने तो परकीय सुख, दुःख, राग, द्वेष आदि का ज्ञान होने पर उसे सुख, दुःख, राग, द्वेष आदि के अनुभव होने का प्रसंग उपस्थित होगा । अतः निश्चयनय से सर्वज्ञत्व मानने में महान् दोष है ।

इन व्याख्याओं से स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ ‘व्यवहार’ शब्द सर्वज्ञत्व की अर्थार्थता का सूचक न होकर परद्रव्यों के साथ ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध की अपरमार्थता (अतादात्म्यरूपता) का सूचक है । इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि भिन्न वस्तु-सम्बन्ध-विषयक-असद्भूतव्यवहारनय सर्वथा उपचारात्मक ही नहीं होता, यथार्थनिरूपक भी होता है ।

निम्नलिखित गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द ने जीवपरिणाम और पुद्गलपरिणाम में परस्पर निमित्तनैमित्तिकभाव बतलाया है—

जीवपरिणामहेतुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति ।

पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ॥ 80 ॥ स. सा.

अर्थात् जीव के शुभाशुभ परिणामों के निमित्त से पुद्गल द्रव्य कर्मरूप से परिणमित हो जाता है, उसी प्रकार पुद्गलकर्मों के निमित्त से जीव भी शुभाशुभभावरूप से परिणमित हो जाता है ।

यह दो द्रव्यों के यथार्थ सम्बन्ध का निरूपण है और यह निश्चयनयात्मक न होकर असद्भूतव्यवहारनयात्मक है, क्योंकि दो द्रव्यों में सत्तात्मक अभेद न होने से उनका कोई भी सम्बन्ध यथार्थ होते हुए भी परमार्थभूत नहीं होता ।

आचार्य अमृतचन्द्र ने पंचास्तिकाय (गाथा 89) की टीका में धर्म और अधर्म द्रव्यों तथा जीव और पुद्गल की गतिस्थिति के निमित्तनैमित्तिकसंबंध को व्यवहारनय व्यवस्थापित कहा है । यह व्यवहारनय भी यथार्थनिरूपक असद्भूतव्यवहारनय है ।

असद्भूतव्यवहारनय यथार्थ का निरूपक भी होता है यह तत्त्वार्थश्लोकवार्तिककार के निम्न वचनों से भी प्रामाणित है—

“तदेवं व्यवहारनयसमाश्रयणो कार्यकारणभावो द्विष्टः

सम्बन्धः संयोग समवायादिवत् प्रतीतिसिद्धत्वात्

पारमार्थिक एव न पुनः कल्पनारोपितः सर्वथाप्ययनवद्यत्वात् ।”

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक 1.7

अर्थात् व्यवहारनय पर आश्रित दो वस्तुओं में रहनेवाला निमित्तनैमित्तिकसम्बन्ध, संयोग, समवाय आदि सम्बन्धों के समान प्रतीति-सिद्ध होने से वास्तविक ही है, कल्पनारोपित नहीं ।

इसी प्रकार पुद्गल कर्म के निमित्त से जीव के जो औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक तथा क्षायिक भाव होते हैं वे भी आत्मवस्तु की सत्ता के अंग नहीं हैं, उनके बिना भी आत्मा की सत्ता रहती है । जैसे मुक्तावस्था में औदयिक, औपशमिक तथा क्षायोपशमिक भाव नहीं रहते तथा संसारावस्था में क्षायिकभाव नहीं रहता, किन्तु आत्मा की सत्ता रहती है । इस प्रकार ये परद्रव्याश्रित भाव भी यद्यपि यथार्थ हैं तो भी परमार्थभूत न होने से निश्चयनय से आत्मा के नहीं हैं, असद्भूतव्यवहारनय से आत्मा के हैं । निम्नलिखित गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द ने इन्हें व्यवहारनय से जीव का कहा है—

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया ।

गुणठाणंता भावा ण दु केई रिणच्छयणयस्स ॥ 56 ॥ स. सा.

अर्थात् वर्णादि से लेकर गुणस्थानपर्यन्त भाव व्यवहारनय से जीव के हैं, निश्चयनय से नहीं (चौदह गुणस्थानों में औदयिक आदि चारों प्रकार के औपाधिक भाव आ जाते हैं) ।

यहाँ वर्णादि को जीव का कहना उपचारात्मक असद्भूतव्यवहारनय है तथा राग-द्वेष-मोह आदि विभिन्न गुणस्थानान्तर्गत भावों को जीव का कहना यथार्थअसद्भूतव्यवहारनय है ।

जीव में रागादि पराश्रित भावों के अस्तित्व का कथन करनेवाले असद्भूतव्यवहारनय को आचार्यों ने अशुद्धनिश्चयनय की संज्ञा दी है, इसी से सिद्ध है कि वह उपचारात्मक असद्भूतव्यवहारनय ने भिन्न है (स. सा. 11, ता. वृ. 57) । इसी प्रकार दो द्रव्यों के निमित्तनैमित्तिकादि सम्बन्धों के कथन को नहीं अपितु उनके आधार पर एक के धर्म का दूसरे पर आरोप करने को उपचार कहा है । इससे सिद्ध है कि निमित्तनैमित्तिकादि सम्बन्धों का कथन उपचार नहीं अपितु यथार्थ कथन है । परद्रव्यसम्बन्ध तथा परद्रव्याश्रित-भाव का कथन “भिन्नवस्तुसम्बन्धविषयोऽसद्भूतव्यवहारः” (आलापपद्धति) लक्षण के अनुसार असद्भूतव्यवहारनय है । पंचाध्यायीकार ने रागादि भावों के कथन को असद्भूतव्यवहारनय का ही विषय कहा है (पंचाध्यायी 1/546) ।

इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द के निरूपणों से असद्भूत व्यवहारनय के दो भेद आविर्भूत होते हैं—1. उपचारात्मक असद्भूत व्यवहारनय और 2. यथार्थ असद्भूत व्यवहारनय । उपचारात्मक असद्भूत व्यवहारनय का मुख्यार्थ असत्य होता है किन्तु यथार्थ असद्भूत व्यवहारनय का मुख्यार्थ सत्य । जैसे—‘जीव पुद्गलकर्मों का कर्ता है’ अर्थात् जीव पुद्गलकर्मों का कर्ता नहीं होता, निमित्तमात्र होता है । तथा ‘जीव पुद्गलकर्मों का निमित्त है’ यह यथार्थ असद्भूत व्यवहारनय है । इसका मुख्यार्थ सत्य है क्योंकि जीव के शुभाशुम-भाव वास्तव में पुद्गल कर्मों के निमित्त होते हैं ।



कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थों में सम्यग्चारित्र की अवधारणा

—डॉ. राजकुमारी जैन

□

सम्यग्चारित्र निरन्तर आत्मनिरीक्षण, आत्मविश्लेषण तथा आत्मानुभवपूर्वक आत्मशोधन करते हुए अपने परमात्मस्वरूप को प्राप्त करानेवाली प्रक्रिया है। आत्मा स्वभावतः एक शुद्ध चैतन्यस्वरूप, अशरीरी, शाश्वत, अनन्तदर्शनज्ञानसुखवीर्यमय सत्ता है जो संसारी अवस्था में अल्प ज्ञान, अल्प शक्ति तथा अल्प सुख से युक्त है और शरीर धारण करके निरन्तर जन्म-मरण कर रहा है। उसकी इस अवस्था का कारण उसका अपने स्वरूप के प्रति अज्ञान तथा उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न होनेवाले राग, द्वेष, काम क्रोधादि विकारी भाव और उनके कारण बंधनेवाले ज्ञानावरणीयादि पुद्गल कर्म हैं। इन विकारी भावों और पुद्गल कर्मों के कारण जीव की अनन्त ज्ञानादि शक्तियाँ लुप्त हो जाती हैं जिसके फलस्वरूप वह शरीर से संयुक्त होकर अल्पज्ञानादि का ही अनुभव कर पाता है। व्यक्ति सम्यग्चारित्र का अवलम्बन कर अपने समस्त विकारों तथा ज्ञानावरणीयादि कर्मों को समाप्त करके ही जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा तथा अपने अनन्तज्ञानादि परम वैभव-सम्पन्न स्वरूप को प्राप्त कर सकता है।

चारित्र शब्द का अर्थ है व्यक्ति का आचरण या उसके द्वारा की गयी क्रियाएँ। व्यक्ति का चारित्र सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक ही सम्यक् हो सकता है। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र को परिभाषित करते हुए कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं—“जीवादि पदार्थों का श्रद्धान दर्शन, उनका निश्चय ज्ञान तथा रागादि को दूर करना चारित्र, यही मोक्षमार्ग है।”¹ लेकिन साथ ही वे यह भी कहते हैं—“जीवादि पदार्थों के श्रद्धान को

व्यवहार नय से ही सम्यक्त्व कहा है। निश्चय नय से तो अपना आत्मा ही सम्यक्त्व है।¹² निश्चय नय से सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र का स्वरूप है—“जो आत्मा अपनी आत्मा में लीन हो, आत्मानुभूति से युक्त हो वही सम्यग्दृष्टि है। जो आत्मा को जानता है वह सम्यग्ज्ञान है तथा जो आत्मा अपने स्वरूप में आचरण करता है वही सम्यग्चारित्र है, यही मोक्षमार्ग है।¹³”

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का स्वरूप

जीव, अजीव, आस्रव (कर्मों का आना), बन्ध (कर्मों का बंधना), संवर (नवीन कर्मास्रव का निरोध), निर्जरा (पूर्वबद्ध कर्मों का विनाश), मोक्ष, पुण्य और पाप इन नौ पदार्थों के स्वरूप की प्रतीति या श्रद्धा सम्यग्दर्शन तथा इनके स्वरूप का निश्चय सम्यग्ज्ञान है। व्यवहार नय से नौ पदार्थों के स्वरूप का दर्शन और ज्ञान ही निश्चय नय से एक आत्मा का दर्शन और ज्ञान है। शास्त्रों में ‘व्यवहार नय’ और ‘निश्चय नय’ पदों का अनेक अर्थों में प्रयोग किया गया है। यहाँ पर एक वस्तु के विश्लेषणपूर्वक उसके अनेक अंशों या धर्मों को समझते हुए उस वस्तु के स्वरूप को ग्रहण करनेवाले नय को व्यवहार नय कहा गया है तथा उन अनेक धर्मों की एकतारूप एक द्रव्य को ग्रहण करनेवाला नय निश्चय नय है। व्यवहार नय एक सत्ता को उसके अनेक गुणों के माध्यम से ग्रहण करता है तथा निश्चय नय अनेक गुणों में व्याप्त एक अखण्ड सत्ता को जानना है। एक द्रव्य को उसके अनेक गुणों को जानते हुए ही जाना जा सकता है लेकिन यदि पृथक्-पृथक् गुणों का ज्ञान तो हो जाय पर उन गुणों की एकतारूप द्रव्य को ग्रहण नहीं किया जा सके तो उन गुणों का ज्ञान मिथ्या है। अतः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र के प्रति निश्चय नय की प्रवृत्ति व्यवहारनयपूर्वक ही हो सकती है पर यदि व्यवहार नय से नौ पदार्थों के स्वरूप को पृथक्-पृथक् जान लेने पर भी व्यक्ति को निश्चय नहीं हो कि ये नौ पदार्थ पृथक्-पृथक् न होकर एक ही आत्मा हैं—आत्मा ही शरीर से संबद्ध है, आत्मा ही रागद्वेषादि भावकर्मरूप से परिणामित होते हुए पुण्य और पाप का आस्रव और बन्ध है, आत्मा ही रागद्वेषादि से रहित होकर शुद्ध होते हुए संवर और निर्जरा है, आत्मा ही समस्त विकारों से रहित होने पर मोक्ष है, तो उसका नौ पदार्थों का ज्ञान यथार्थ नहीं हो सकता।

एक सम्यग्दृष्टि व्यक्ति नौ पदार्थों के स्वरूप को मली प्रकार जानते हुए अपनी आत्मा को अच्छी तरह जानता है। वह जीव और अजीव तत्त्व का ज्ञान होने के कारण वर्तमान समय में अपनी शरीराश्रितता, आर्थिक, सामाजिक, भौतिक परिस्थितियों और कर्मादय के अपने ऊपर पड़नेवाले प्रभावों के स्वरूप को अच्छी तरह जानता है। वह यह जानता है कि यद्यपि प्राकृतिक रूप से वह एक शाश्वत, शरीर-रहित तथा अनन्तदर्शनज्ञान-सुखवीर्यसम्पन्न आत्मा है, उसकी ज्ञानादि सामर्थ्य अन्यानिरपेक्ष है, वह इन्द्रियादि किसी भी पदार्थ की सहायता लिये बिना सब-कुछ को एक साथ जानने की क्षमता रखता है लेकिन वर्तमान समय में उसकी ये शक्तियाँ कर्मों से आवृत होकर मन्द हो गयी हैं तथा

ये शरीर और बाह्य परिस्थितियों की सहायता से ही अभिव्यक्त हो सकती हैं। वह इन्द्रियों की सहायता लेकर ही किसी पदार्थ को जान सकता है, किसी कार्य को कर सकता है, सुखानुभव कर सकता है। शरीर के सुचारु रूप से कार्य करने के लिए संतुलित आहार, निद्रा, स्वच्छ जलवायु आदि आवश्यक हैं। इनकी पूर्णतया उपेक्षा कर दिये जाने पर शरीर अशक्त हो जायेगा जिसके परिणामस्वरूप उसकी समस्त ज्ञानात्मक और क्रियात्मक शक्तियाँ लुप्त हो जायेंगी।

एक सम्यग्दृष्टि व्यक्ति यह भी जानता है कि उसकी इस पराधीनता का कारण उसके अपने स्वरूप के प्रति अज्ञान, राग, द्वेष, काम, क्रोधादि भाव हैं। ये भाव आत्मा का स्वरूप न होकर कर्मोदयजनित विकारी भाव हैं। जिस प्रकार शुद्ध श्वेत स्फटिक मणि विभिन्न रंगों से युक्त प्रतिभासित होता है, यह विभिन्न रंगयुक्तता उसका स्वाभाविक धर्म न होकर अन्य पदार्थों के संयोग से उत्पन्न आगन्तुक धर्म है। उन पदार्थों का संयोग समाप्त होते ही स्फटिक मणि का विभिन्न रंगमय प्रतिभासन समाप्त हो जाता है तथा वह अपने शुद्ध श्वेत स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। इसी प्रकार आत्मा भी स्वभावतः अज्ञान, विषयासक्ति, क्रोधादि संवेगों से रहित शुद्ध चैतन्य स्वरूप सत्ता है। उसके ज्ञान-दर्शन गुण दर्शनमोहनीय कर्म का उदय होने पर विकृत होकर मिथ्यात्व (अज्ञान) रूप तथा चारित्रमोहनीय कर्म का उदय होने पर राग, द्वेष, क्रोधादि रूप से परिणमित होते हैं। आत्मा का यह विकारी परिणमन कर्मोदयजन्य है तथा ज्ञानावरणीयादि अष्ट कर्मों के नवीन बन्ध का कारण है। इस प्रकार बीजांकुर न्याय से पुद्गल कर्मों के उदय से विकारी भावों की उत्पत्ति, विकारी भावों के द्वारा पुद्गल कर्मों का नवीन बन्ध तथा भविष्य में उन कर्मों का उदय होने पर पुनः आत्मा में विकारों की उत्पत्ति का क्रम चलता रहता है। इस प्रकार कर्मों से संयुक्त आत्मा निरन्तर अज्ञान, रागद्वेषादि विकारी अवस्थाओं को प्राप्त कर शरीर से संयुक्त होकर जन्म-मरण करता रहता है तथा कर्मों का संयोग समाप्त हो जाने पर अपने निर्विकार, अनन्त ज्ञानादि गुणों से सम्पन्न चैतन्य-स्वरूप में अवस्थित हो जाता है।

ऐसा नहीं है कि पुद्गल कर्मों का उदय ही आत्मा के विकारी परिणमन का एकमात्र कारण है। वास्तव में आत्मा स्वयं अपने विकारी परिणमन का उपादान कारण तथा कर्मोदय उसका निमित्त कारण है। जिस प्रकार लकड़ी ज्वलन क्रिया का उपादान कारण तथा अग्नि निमित्त कारण है। अग्नि ही लकड़ी को जलाती है, अग्नि के अभाव में लकड़ी नहीं जल सकती लेकिन अग्नि का सद्भावमात्र लकड़ी की ज्वलन क्रिया का एकमात्र कारण नहीं है बल्कि लकड़ी की इस क्रिया हेतु उपादान योग्यता या जल सकने की क्षमता भी इस क्रिया का एक अनिवार्य कारण है। यदि कुछ रासायनिक तत्त्वों के प्रयोगपूर्वक लकड़ी की इस क्षमता को समाप्त कर दिया जाय तो अग्नि द्वारा उसे जलाया जा सकना असम्भव है। अथवा जैसे रोग के कीटाणुओं का शरीर में प्रवेश रोग का अनिवार्य कारण है, इसके बिना व्यक्ति रोगी हो ही नहीं सकता, लेकिन रोगाणुओं का शरीर में प्रवेश होने पर भी वह रोगग्रस्त होगा या नहीं यह उसकी उपादान योग्यता

अर्थात् उसकी रोग-प्रतिरोधक-क्षमता के स्वरूप पर निर्भर करता है। इस प्रकार यदि कर्मों का उदय नहीं हो तो आत्मा में काम, क्रोधादि विकार उत्पन्न हो ही नहीं सकते लेकिन कर्मों का उदय होने पर भी आत्मा इन विकृत रूपों को प्राप्त होगा या नहीं यह उसकी उपादान योग्यता या विकाररूप से परिणामन कर सकने की क्षमता पर निर्भर करता है।

आत्मा का विकाररूप से परिणमित होने सम्बन्धी उपादान योग्यता का स्वरूप है उसकी मिथ्या धारणाएँ और मिथ्या संकल्प। एक अज्ञानी जीव अपने आप को शरीर ही मानता है, स्त्री-पुत्र, धन-धान्यादि पदार्थों पर अपना स्वामित्व मानता है, बाहरी पदार्थों को सुखी-दुःखी बनानेवाला मानता है। इन मिथ्या धारणओं से युक्त आत्मा ही विषयासक्ति, क्रोध, लोभ आदि विकारी भावों का उपादान कारण है। उदाहरण के लिए किसी व्यक्ति के क्रोधित होने का मूल कारण 'इसने मुझे नुकसान पहुँचाया' जैसी कोई मिथ्या मान्यता होती है। यदि उसकी यह धारणा समाप्त हो जाय तो जड़ कर्मों के उदयमात्र से व्यक्ति क्रोध-पर्याय को प्राप्त नहीं कर सकता। इसी प्रकार व्यक्ति के अभिमान, भय, काम, लोभादि समस्त विकारों के मूल में उसकी मिथ्या मान्यताएँ हैं तथा इनके पूर्णतया समाप्त हो जाने पर मात्र कर्मोदय व्यक्ति में विकारों की उत्पत्ति नहीं कर सकता। इस प्रकार मिथ्या मान्यताओं से युक्त आत्मा ही क्रोधादि विकारों का उपादान कारण है तथा निरन्तर आत्मचिन्तन और आत्मानुभूति द्वारा अपनी मिथ्या मान्यताओं को समाप्त करके ही अपने निर्विकार ज्ञानदर्शनमय चेतनस्वरूप को प्राप्त किया जा सकता है। कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं—“शुद्धात्मा को जानता हुआ—अनुभव करता हुआ जीव ही अपनी शुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है।”⁴ शुद्ध आत्मा के ज्ञान तथा अनुभव से युक्त व्यक्ति ही अपनी आत्मा को रागद्वेषादि से रहित निर्विकार बनाता हुआ अपने परमात्मस्वरूप को प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार अपने शुद्ध स्वरूप में आचरणरूप सम्यग्चारित्र्य की प्राप्ति सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान पूर्वक ही हो सकती है।

सम्यग्चारित्र्य की अवधारणा

व्यक्ति के संसार परिभ्रमण का मूल कारण उसका अपने स्वरूप के प्रति अज्ञान, राग, द्वेषादि हैं तथा वह तत्त्वज्ञान द्वारा अपने अज्ञान को समाप्त कर और निरन्तर राग, द्वेषादि विकारों से रहित होने का संकल्प और प्रयत्न करता हुआ ही मुक्त हो सकता है। कुन्दकुन्दाचार्य के शब्दों में—वह अपनी शुद्धात्मा को जानकर शुद्धात्मस्वरूप में आचरणरूप चारित्र्य को अंगीकार करके ही मुक्त हो सकता है। इसके लिए एक सम्यग्दृष्टि व्यक्ति अपने बहिरात्मस्वरूप का परित्याग कर अन्तरात्मा बनकर निरन्तर अपने परमात्मस्वरूप का ध्यान करता है।⁵ उसे प्राप्त करने के लिए सतत प्रयत्नरत रहता है।

बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि जो व्यक्ति अपने आपको शरीर ही मानता है, बाहरी पदार्थों को सुख-दुःख प्रदान करनेवाला मानता है तथा चक्षुरादि इन्द्रियों के विषयों में लीन है वह बहिरात्मा

है। जो व्यक्ति यह संकल्प करता है कि जो शरीर से भिन्न है तथा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष द्वारा 'मैं हूँ' इस रूप में जाना जा रहा है वही मेरा स्वरूप या आत्मा है वह अन्तरात्मा है। जो समस्त कर्म-कलंक (ज्ञानावरणीयादि द्रव्यकर्म तथा मोह, राग, द्वेषादि भावकर्म) से रहित हो, भूख, प्यास, काम, क्रोधादि अन्तरंग और बहिरंग मलों से रहित हो तथा अनन्तज्ञानादि परम वैभव से सम्पन्न हो वह परमात्मा है।⁶

एक सम्यग्दृष्टि व्यक्ति यह जानता है कि जीवादि बाह्य तत्त्व वास्तव में हेय (त्यागने योग्य) हैं, कर्मोपाधिजनित गुण-पर्यायों से व्यतिरिक्त आत्मा आत्मा को उपादेय (प्राप्तकरने योग्य) है।⁷ वह अपनी कर्मोपाधिजनित गुण-पर्यायों से व्यतिरिक्त शुद्ध आत्मा को प्राप्त करने के उद्देश्य से निरन्तर अपने शुद्ध स्वरूप का चिन्तन, भावना और ध्यान करता है तथा अपने विकारों के परित्याग का संकल्प करता है। वह यह विचार करता है कि मैं सिद्धों के समान जन्मजरामरण से रहित अष्टगुणों से अलंकृत, अशरीरी, अतीन्द्रिय, अविनाशी, निर्मल, विशुद्ध आत्मा हूँ।⁸ जो केवलज्ञानस्वभाव, केवलदर्शनस्वभाव, सुखरूप और केवलशक्तिरूप आत्मा है, वह मैं हूँ।⁹ प्रकृति-बन्ध, स्थिति-बन्ध, अनुभाग-बन्ध और प्रदेश-बन्ध से रहित जो आत्मा है, वह मैं हूँ।¹⁰ मैं न तो गुणस्थान हूँ, न मार्गणास्थान हूँ, न मैं क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष या मोह हूँ, न मैं मनुष्य, देव, तिर्यञ्च या नारकी हूँ, न मैं इन पर्यायों का कर्ता, करानेवाला या अनुमोदक हूँ।¹¹ रागद्वेषादि, गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि पूर्वोक्त समस्त भाव (कर्मोपाधिजनित होने के कारण) परद्रव्य हैं, त्याज्य हैं इसलिए मैं इन सब का परित्याग कर अपनी निर्मल आत्मा में स्थित होता हूँ।¹² इस प्रकार सतत भेदाभ्यास के द्वारा उत्पन्न हुए जीव के मध्यस्थ भाव को चारित्र्य कहा जाता है। इसको दृढ़ करने के उद्देश्य से कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रतिक्रमणादि के स्वरूप का प्रतिपादन किया है।¹³

कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं—“जो सदा प्रतिक्रमण करता है, प्रत्याख्यान करता है, आलोचना करता है वह आत्मा वास्तव में चारित्र्य है। भविष्य काल का जो शुभ-अशुभ कर्म जिस भाव में बंधता है उस भाव से जो निवृत्त होता है वह आत्मा प्रत्याख्यान है। पूर्वकृत जो अनेक प्रकार के विस्तारवाला शुभाशुभ कर्म है उससे जो आत्मा अपने आप को निवृत्त करता है वह आत्मा प्रतिक्रमण है। वर्तमान काल में उदयागत जो अनेक प्रकार के विस्तारवाला शुभाशुभ कर्म है उस दोष को जो आत्मा ज्ञाता भाव से जान लेता है वह वास्तव में आलोचना है।”¹⁴

एक सम्यग्दृष्टि व्यक्ति अन्तरात्मा बनकर—आत्मानुभूति से युक्त होकर अपने शुद्ध स्वरूप का चिन्तन करता है, ध्यान करता है। वह निरन्तर यह विचार करता है कि भूख, प्यास, निद्रा आदि उसका स्वभाव नहीं हैं, वह इन सब से रहित ज्ञानदर्शनमय आत्मा है। अपने शुद्ध स्वरूप को जानते हुए भी उसे क्षुधावेदनीय, तृषावेदनीय आदि कर्मों का उदय होने पर व्याकुलता का अनुभव होता है जिसे वह वीर्यान्तराय कर्म के उदय के परिणामस्वरूप सहनशक्ति का अभाव होने के कारण सहन नहीं कर पाता। यदि वह

अपने आत्मविकास के प्रारम्भिक चरणों में ही इस व्याकुलता की उपेक्षा करके भोजन, जल, निद्रा आदि का पूर्णतया परित्याग कर दे तो उसके अजीव तत्त्व-शरीर, बाहरी परिस्थितियों आदि से सम्बन्धित बन्धनों के कारण उसकी समस्त शान्ति तथा ज्ञानात्मक और क्रियात्मक शक्तियाँ लुप्त हो जाती हैं। इसलिए एक सम्यग्दृष्टि व्यक्ति जल में कमलवत् निर्लिप्त भाव से जीवनयापन करता है। वह मोक्षमार्ग के प्रारम्भिक चरणों में कमाता भी है, खाता भी है, सोता भी है, मनोरंजन के साधनों का उपयोग भी करता है तथा सामाजिक जीवन भी व्यतीत करता है। यह सब करते हुए भी वह इन सब कार्यों का अतिक्रमण कर अपना अन्य-निरपेक्ष स्वाभाविक स्वरूप प्राप्त करने के लिए सतत प्रयत्नरत रहता है।

एक सम्यग्दृष्टि व्यक्ति का लक्ष्य अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप को प्राप्त करना होता है। इसके लिए वह अन्तरात्मा बन कर अपने अन्दर प्रकट हो रही कमजोरियों और विकारों का निरन्तर आलोचन करता है तथा अपने परमात्मस्वरूप की भावना द्वारा उन विकारों और कमजोरियों के मूल में विद्यमान मिथ्या मान्यताओं को समाप्त करके उनसे मुक्त होता है। उदाहरण के लिए किसी व्यक्ति की जीवनरक्षा में सहायक बनने पर व्यक्ति में यह अभिमान उत्पन्न होता है कि मैंने उसे बचाया। सम्यग्दृष्टि व्यक्ति आत्म-निरीक्षण करता हुआ अपने अन्दर प्रकट हो रहे इस भाव को जानता है। वह इस भाव के साथ अपना तादात्म्य स्थापित नहीं करता बल्कि आत्मविश्लेषण द्वारा इस भाव के स्वरूप और कारणों को जानता है तथा तत्त्व-चिन्तन द्वारा इस भाव की उपादान योग्यता के रूप में विद्यमान इस मिथ्या धारणा को समाप्त करता है कि यह अभिमान मेरा स्वरूप न होकर चारित्र्यमोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न आगन्तुक भाव है तथा इसका एक अन्य कारण मेरी यह धारणा भी है कि इस व्यक्ति की जीवनरक्षा का एकमात्र कारण मैं ही हूँ, यह मेरा भ्रम है। इस व्यक्ति के जीवित रहने का प्रमुख कारण इसके आयु कर्म का सद्भाव है। यदि वह समाप्त हो जाता तो इस व्यक्ति को मैं ही क्या अन्य कोई भी नहीं बचा सकता था।¹⁵ सम्यग्दृष्टि व्यक्ति को क्रोध आने पर वह क्रोध पर्याय के स्वरूप को जानता हुआ यह विचार करता है कि चारित्र्यमोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न हो रही मेरी क्रोध पर्याय का एक कारण मेरी यह धारणा भी है—‘इसने मुझे हानि पहुँचायी।’ लेकिन मैं तो एक शाश्वत, अजर-अमर, ज्ञानदर्शनसुखवीर्यमय आत्मा हूँ। मेरा यह स्वरूप ही मेरा अपना है, इसके अतिरिक्त परमाणुमात्र भी मेरा अपना नहीं है। मुझे नष्ट करने की, मेरे ज्ञानदर्शनादि गुणों को हानि पहुँचाने की क्षमता किसी में भी नहीं है तब कोई मेरा नुकसान किस प्रकार कर सकता है। इस प्रकार एक सम्यग्दृष्टि व्यक्ति अन्तरात्मा बनकर निरन्तर आत्मालोचन द्वारा अपनी कमजोरियों और विकारों से युक्त पर्यायों को जानता है तथा अपने शुद्धात्मस्वरूप की अनुभूति और निश्चय द्वारा इन विकारों से ऊपर उठकर चेतना की निर्मल अवस्थाओं को प्राप्त करता जाता है।

काम, क्रोधादि विकार नशीले पदार्थों के सेवन के समान होते हैं। जिस प्रकार

शराब के सेवन द्वारा व्यक्ति नशे में धुत होकर विवेक-शून्य हो जाता है तथा उलटे-सीधे कार्य करने लगता है, व्यक्ति का नशा जितना तीव्र होता है उसकी सोचने-समझने की क्षमता उतनी ही कम हो जाती है। इसी प्रकार चारित्र्यमोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होनेवाले संवेगों और वासनाओं के वशीभूत होकर भी व्यक्ति विवेकशून्य हो जाता है। ये भाव जितने तीव्र होते हैं व्यक्ति में सोचने-समझने की क्षमता का उतना ही अभाव होता है। सम्यग्दृष्टि व्यक्ति में क्रोधादि से अस्त अवस्था में भी जितनी मात्रा में सोचने-समझने की क्षमता होती है वह उनके स्वरूप का विश्लेषण करता हुआ और अपने क्षमा, मार्दव आदि रूप शुद्ध स्वरूप को दृष्टि में रखता हुआ उन पर नियन्त्रण स्थापित करने का प्रयास करता है। जितने अशों में वह इस कार्य में सफल नहीं हो पाता तथा क्रोधादि के वशीभूत होकर गलत कार्य कर बैठता है उसके लिए वह भविष्य में प्रायश्चित्त करता है।

पूर्व में भोगे गये पदार्थों की स्मृतियाँ, काम, क्रोधादि विकार व्यक्ति की चेतना को दीर्घ काल तक अभिभूत किये रहते हैं तथा व्यक्ति की सक्रियता की दिशा निर्धारित करते रहते हैं। व्यक्ति अपने क्रोध के विषयभूत व्यक्ति से बदला लेने के लिए योजनाएँ बनाता रहता है, उन योजनाओं की क्रियान्विति हेतु प्रयास करता रहता है। पूर्व में भोगे गये पदार्थ उसे याद आते रहते हैं तथा वह उन्हें पुनः प्राप्त करने के लिए व्याकुलता का अनुभव करता रहता है। एक अज्ञानी व्यक्ति अपने इन भावों से तादात्म्य स्थापित कर अपने समस्त चिन्तन और पुरुषार्थ को इनकी तृप्ति पर केन्द्रित कर देता है तथा निरन्तर नवीन कर्मबन्ध करता रहता है। इसके विपरीत एक सम्यग्दृष्टि व्यक्ति अपने चिन्तन और पुरुषार्थ को अपने विषयासक्ति, क्रोध आदि विकारों पर नियन्त्रण स्थापित करने तथा स्वभाव में स्थित होने पर केन्द्रित करता है। वह पूर्वकृत तथा भविष्य में किये जानेवाले विषयभोग, क्रोध, हिंसा आदि से अपनी चेतना को मुक्त बनाने के लिए प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान करता है। वह अज्ञानी व्यक्ति के समान पूर्व में भोगे गये पदार्थ की पुनःप्राप्ति हेतु संकल्प नहीं करता अपितु यह संकल्प करता है कि मैं पूर्व में भोगे गये पदार्थों का परित्याग करता हूँ। मुझे भविष्य में किसी परपदार्थ का भोग नहीं करके अपने ज्ञानानन्द स्वभाव का भोग करना है। मैंने पूर्व में जो क्रोध किया वह अनुचित था। मैं अब उस क्रोध को, बदला लेने की भावना को छोड़ता हूँ। मैं अब भविष्य में न तो किसी पर क्रोध करूँगा, न ही किसी प्रकार का प्रतिशोध लूँगा, मैं सबके प्रति क्षमाभाव और मैत्रीभाव धारण करता हूँ।

जीवन में विविध परिस्थितियों के सद्भाव में व्यक्ति में भिन्न-भिन्न प्रकार के भाव प्रकट होते हैं। आर्थिक समृद्धि के सद्भाव में व्यक्ति में अभिमान, तृष्णा आदि दोष उत्पन्न होते हैं, वह अपने आपको गरीबों से श्रेष्ठ मानने लगता है, विषयभोगों में लीन होने लगता है और अधिक धन प्राप्त करने की आकांक्षा करता है। इसके विपरीत गरीब होने पर वह हीन भावना से अस्त हो जाता है, समृद्ध व्यक्तियों से ईर्ष्या करने लगता है। उच्चपद की प्राप्ति एक प्रकार की मानसिक अवस्थाओं और व्यक्तित्व का निर्माण करती

है तो निम्नपद पर विद्यमानता दूसरे प्रकार का व्यक्तित्व तथा अनुभूतियाँ उत्पन्न करती है। सम्यग्दृष्टि व्यक्ति सतत आत्मालोचन द्वारा अन्यद्रव्यकृत इन विविध भावों को जानता है तथा अपने परमात्मस्वरूप की भावना द्वारा अपनी अनुभूतियों को अभिमान, लोभादि से रहित निर्मल बनाने हेतु प्रयत्नरत रहता है। वह निरन्तर यह विचार करता है कि मैं एक ज्ञानदर्शनसुखवीर्यमय आत्मा हूँ। मेरा स्वामित्व मात्र मेरे गुणों पर है तथा यही मेरे स्वरूप के नियामक हैं। मुझसे भिन्न पदार्थ, घन, पद आदि का सद्भाव-अभाव मुझे समृद्ध-दरिद्र, महान् या हीन नहीं बना सकता। मेरी समृद्धि और महत्ता मेरे ज्ञानादि गुणों के विकास में तथा दरिद्रता और हीनता ज्ञानादि गुणों के ह्रास में निहित है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि व्यक्ति विविध प्रकार के कार्यों को करते हुए, कर्मों के विविध प्रकार के उदय को भोगते हुए निरन्तर कर्मों की निर्जरा करता है। कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं—

“सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रियों के द्वारा जो चेतन और अचेतन पदार्थों का भोग करता है वह सब निर्जरा का निमित्त है। वस्तु भोगने में आने पर सुख अथवा दुःख नियम से उत्पन्न होता है, सम्यग्दृष्टि उस उदय को प्राप्त हुए सुख-दुःख का अनुभव करता है, इसके बाद वह (सुख-दुःख रूप भाव) निर्जरा को प्राप्त हो जाता है। जिस प्रकार वैद्य पुरुष विष को भोगता हुआ भी मरण को प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष पुद्गल कर्म के उदय को भोगता है पर उससे बंधता नहीं है (नवीन कर्मबन्ध नहीं करता)।”¹⁶

जैनशास्त्रों में सम्यग्चारित्र का वर्णन करते हुए व्यक्ति की मन, वचन और शरीर से सम्बन्धित क्रियाओं के प्रति अनेक विधि-निषेधों का प्रतिपादन किया गया है। श्रावक और मुनि के अनेक मूलगुण और उत्तरगुण बताये गये हैं, उनके अतिचार और अनाचारों का वर्णन किया गया है। व्यक्ति के आचरण का यह बाह्य पक्ष अपने आप में पूर्ण सत्य न होकर आचरण के आन्तरिक पक्ष ज्ञानदर्शनात्मक पक्ष से सापेक्षरूप से ही सार्थक है। शरीरादि की क्रियाओं के प्रति विधि-निषेध अपनी क्षुधा, तृषा आदि कमजोरियों पर विजय पाने, अपने प्रमाद को समाप्त तथा अपने निर्विकार तथा अनन्तशक्ति-सम्पन्न चैतन्यस्वरूप को प्राप्त करने का साधनमात्र है तथा उसी व्यक्ति के लिए सार्थक है जो अपनी शुद्ध आत्मा को जानता है, उसकी निरन्तर भावना करता है, उसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्नरत है। कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं—“भावों की विशुद्धि के निमित्त से बाह्य-परिग्रह का त्याग किया जाता है। जो व्यक्ति आभ्यन्तर परिग्रह (प्रेय पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा) से युक्त है उसका बाह्य परिग्रह का त्याग निष्फल है। यदि भावरहित व्यक्ति अनेक जन्मों में कोड़ा-कोड़ी साल तक हाथ लम्बे करके तथा वस्त्रों का परित्याग कर तपस्या करता रहे तब भी उसे मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती।”¹⁷ जो व्यक्ति गृहस्थ अथवा मुनि की बाह्य क्रियाओं के प्रति शास्त्रोक्त विधि-निषेधों के अक्षरशः पालनमात्र को ही अपना एकमात्र कर्तव्य मानते हैं उन्हें संबोधित करते हुए कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं—“यह मुनियों और गृहस्थ के लिंग मोक्षमार्ग नहीं है। (आत्मानुभूति, आत्मस्वरूप के निश्चय तथा आत्म स्वरूप में आचरण-रूप) दर्शन-ज्ञान-चारित्र को जिनदेव मोक्षमार्ग कहते हैं।” “तू मोक्षमार्ग में अपनी आत्मा को स्थापित कर, उसी का ध्यान कर, उसी को अनुभव कर और उसी में निरन्तर विहार कर, अन्य द्रव्यों में विहार मत कर।”¹⁸

व्यक्ति मोक्ष-पथ में अपनी आत्मा को स्थापित करके उसमें विहार करने के उद्देश्य से—अपने अस्वाद्य स्वभाव, अपेय स्वभाव को प्राप्त करने के उद्देश्य से उपवासादि क्रियाओं को करता है। अपने शुद्ध स्वरूप में बहुत थोड़े अंशों में ही विहार कर पाने तथा कदम-कदम पर अपनी कमजोरियों, बन्धनों और विकारों से समझौता करने का नाम ही गृहस्थ-अवस्था है लेकिन जब व्यक्ति अपनी समस्त कमजोरियों और विकारों को समाप्त कर अपने समस्त बन्धनों को तोड़कर अपनी आत्मा में विहार के लिए पूरी तरह से उद्यत हो जाता है तो उसे मुनि कहा जाता है। मुनिराज अल्पाहार, उपवासादि को अंगीकार कर क्षुधावेदनीय कर्म के तीव्र उदय को आमंत्रित करते हैं, घनघोर जंगलों में जाकर तपस्या करते हुए भय को उत्पन्न करनेवाले चारित्र्यमोहनीय कर्म के तीव्र उदय को जाग्रत करते हैं। ऐसा करते हुए वे क्षुधा का अनुभव करते हैं, भय का अनुभव करते हैं, लेकिन वे क्षुधा की वेदना से, भय से अथवा अपनी अन्य कमजोरियों से डरकर बाह्य परिस्थितियों से किसी भी प्रकार का समझौता नहीं करते, भय लगने पर जंगल से भाग नहीं जाते, न ही आत्मरक्षा हेतु हथियारों आदि की व्यवस्था करते हैं। वे तो अपने शाश्वत, अजर-अमर, चेतनस्वरूप की भावना तथा अनुभव द्वारा भय आदि की उपादान योग्यता-शरीर के प्रति ममत्व आदि भावनाओं को जड़-मूल से उखाड़ कर अपने निर्भय स्वभाव को, अस्वाद्य स्वभाव को, अपेय स्वभाव को क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि स्वभावों को प्राप्त करते हैं।

आचार सम्बन्धी ग्रन्थों में आलोचना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान आदि को मुमुक्षु व्यक्ति के आवश्यक कर्म बताये गए हैं। इनके स्वरूप को व्यक्ति के आचरण में आ चुके, आ रहे और आनेवाले दोषों को समाप्त करने के संकल्प के रूप में प्रतिपादित किया गया है। मूलाचार आदि ग्रन्थों के अनुसार एक गृहस्थ अथवा मुनि का अपने मूलगुण, उत्तरगुणों आदि के पालन में दोष रह जाने पर उन दोषों की समाप्ति हेतु आलोचना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान आदि करना कर्त्तव्य है। आचरण के बाह्य पक्ष के दोषों की समाप्ति का उद्देश्य आत्मगत दोषों की समाप्ति है इसलिए कुन्दकुन्दाचार्य नियमसार के विभिन्न ग्रंथायों में कहते हैं कि निश्चय नय से अपने दोषों का परित्याग कर गुणों में स्थित होनेवाली आत्मा अपने विकारों का परित्याग कर निर्विकार स्वरूप से अवस्थित होनेवाली आत्मा ही प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना आदि है।

मुनिराज अपनी प्रारम्भिक अवस्थाओं में विविध प्रकार के संकल्प करते हैं। वे भोजन, जल आदि का त्याग कर उपवास का संकल्प करते हैं। निद्रा, भय आदि का परित्याग कर निद्रारहित और निर्भय बनने का संकल्प करते हैं। इस प्रकार वे अपनी स्थूल कमजोरियों पर विजय प्राप्त करते हैं। लेकिन ये संकल्प भी आत्मा के शुद्ध स्वरूप के अनुरूप नहीं हैं। कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं—“आत्मा अमूर्तिक होने के कारण वास्तव में आहारक नहीं है क्योंकि आहार तो पुद्गलमय होने के कारण वास्तव में मूर्तिक है। आत्मा का यह प्रायोगिक तथा वैज्ञानिक गुण है कि वह अपने से भिन्न किसी द्रव्य को न तो ग्रहण कर सकता है और न ही छोड़ सकता है इसलिए जो विशुद्ध चेतयिता है वह न

तो किसी जीव या अजीव द्रव्य का ग्रहण करता है और न ही उनका त्याग करता है।¹⁹ जब आत्मा भोजनादि किसी पदार्थ को न तो ग्रहण कर सकता है न त्याग ही सकता है तो उनके परित्याग का संकल्प भी उतना ही मिथ्या है जितना कि उन्हें ग्रहण करने का संकल्प। इसलिये आचार्य उच्च अवस्थाओं को प्राप्त मुनि को सभी प्रकार के संकल्प-विकल्पों का परित्याग कर, विचाररहित होकर अपनी ज्ञानानन्दमय आत्मानुभूति में लीन होने के लिए प्रेरित करते हुए कहते हैं—“प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि ये आठ प्रकार के विषकुम्भ हैं। अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिन्दा, अगर्हा और अशुद्धि ये अमृतकुम्भ हैं।”²⁰ इसलिये आगे चलकर मुनिराज संकल्प करने के संकल्प का भी परित्याग कर, मन, वचन, काय की समस्त क्रियाओं को रोक कर पूर्णतया वचन-रचना से रहित होकर अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप की अनुभूतिरूप निर्विकल्प ध्यान में लीन हो जाते हैं तथा इस ध्यानरूपी कुठार के द्वारा भवरूपी वृक्ष को काट देते हैं।²¹

इस प्रकार हम देखते हैं कि कुन्दकुन्दाचार्य के अनुसार अपने रागादि विकारों को समाप्त कर शुद्ध स्वरूप के अनुरूप आचरण सम्यक् चारित्र्य है। व्यक्ति की आत्मपर्यायों में जितने अंशों में रागादि विकार विद्यमान होते हैं उतने अंशों में उसका आचरण मिथ्या है तथा जितने अंशों में वह रागादि को समाप्त कर अपने अन्दर ज्ञाता-दृष्टा-भाव विकसित करता है उतने अंशों में उसका आचरण सम्यक् है। चारित्र्य-शुद्धि की प्रक्रिया आलोचना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, प्रायश्चित्त, आत्मस्वरूप की भावना या सामायिक और ध्यानरूप होती है। आलोचना आदि प्रक्रियाओं द्वारा व्यक्ति अपने मोहनीयादि द्रव्यकर्मों तथा राग, द्वेषादि भावकर्मों के स्थूल या उदय में आ रहे रूपों को समाप्त करता हुआ चेतना की निर्मल अवस्थाओं को प्राप्त करता है तथा अन्त में शारीरिक क्रियाओं के साथ ही साथ आलोचनादि क्रियाओं से भी ऊपर उठकर अपने शुद्ध स्वरूप की शब्दरहित अनुभूति में लीनतारूप निर्विकल्पकसमाधि द्वारा अपने समस्त द्रव्यभावकर्मों को सम्पूर्णतया समाप्त करके पूर्णरूपेण शुद्ध स्वरूप के अनुरूप आचरणरूप परमात्मस्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

1. समयसार, गाथा 155।
2. दर्शनपाहुड, गाथा 20।
3. अप्पा अप्पाम्मि रओ सम्माइठ्ठी हवेइ फुडु जीवो।
जाणइ तं सण्णाणं चरदिह चारितमगुन्ति ॥ 31, भावपाहुड
4. समयसार, गाथा 186, पूर्वाद्धं।
5. तत्थ परो भाइज्जइ अतोवाएण चयहि बहिरप्पा। मोक्षपाहुड, गाथा 4, उत्तराद्धं
6. अक्खाणि बहिरप्पा अंतरअप्पा हु अप्पसंकल्पो।
कर्मकलकविमुक्को परमप्पा भण्णए देव ॥ 5, मोक्षपाहुड

7. नियमसार, गाथा 38 ।
8. वही, गाथा 47, 48 ।
9. वही, गाथा 98 ।
10. वही, गाथा 119 ।
11. वही, गाथा 77, 81 ।
12. भावपाहुड, गाथा 57 ।
13. नियमसार, गाथा 82 ।
14. समयसार, गाथा 386, 84, 83, 85 ।
15. समयसार गाथा 250, 251 ।
16. समयसार, गाथा 193, 195 ।
17. भावपाहुड, गाथा 3, 4 ।
18. समयसार, गाथा 410, 412 ।
19. समयसार, गाथा 407, 9 ।
20. समयसार, गाथा 306, 7 ।
21. छिदंति भावसवणा भाणकुठारेहि भवकखं । भावपाहुड, गाथा 122, उत्तरार्द्ध ।



वंदणीया गुणवादी

ण वि देहो वंदिज्जइ ण वि य कुलो ण वि य जाइसंजुत्तो ।
को वंदमि गुणहीणो णहु सवणो णेव सावओ होइ । 27 ।

—न शरीर की वन्दना की जाती है, न कुल की वन्दना की जाती है और न (उच्च) जाति से संयुक्त की वन्दना की जाती है । गुणहीन की वन्दना कौन करता है ? क्योंकि गुणों के बिना (वह) न मुनि होता है और न श्रावक होता है ।

• • •

दंसरणरणचरित्ते तवविणये णिच्चकालसुपसत्था ।
एदे ङु वंदणीया जे गुणवादी गुणधराणं । 23 ।

—जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप और विनय में निरन्तर लीन रहते हैं और गुणों के धारक आचार्य आदि का गुणगान करते हैं वे वन्दना करने योग्य हैं—पूज्य हैं ।

दर्शनपाहुड

आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि में 'समय'

—डॉ. श्रीमती पुष्पलता जैन



आचार्य कुन्दकुन्द भारतीय संस्कृति के अनूठे पुजारी और जैन संस्कृति के अनुपम धरोहर थे। उन्होंने भारतीय दर्शन के आलोक में जैनदर्शन को जिस सक्षमता, बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता के साथ संभाला, पुष्पित और पल्लवित किया वह किसी प्रकांड दार्शनिक और मत संस्थापक के व्यक्तित्व से कम प्रतिभाशाली व्यक्तित्व नहीं कहा जा सकता। तीर्थंकर महावीर की दुंदुभि के स्वर तो गुंजित होते ही रहे और उससे मोहाच्छन्न संसारी जीवों को नया प्रकाश और जीवन-दान मिला पर कालानुसार उसे व्यवस्थित और व्याख्यायित करने का श्रेय कुन्दकुन्द को ही जाता है इसलिए उनके नाम से एक विशिष्ट आम्नाय भी प्रारम्भ हुई है जिसका सम्बन्ध जैनधर्म की मूल-परम्परा और विशुद्ध अध्यात्म से रहा है।

सारे दर्शनों का केन्द्र-बिन्दु आत्मा माना गया है। कोई भी दार्शनिक चाहे वह पौर्वीत्य रहा हो या पाश्चात्य, आत्मा पर विचार किये बिना आगे नहीं बढ़ सका। वेदों में भी “एकं हि सद् विप्राः बहुधा वदन्ति” जैसे अनेक उल्लेख आत्मा को विचारों के कंगूरों पर बैठा पाते हैं। जैनों का ‘पूर्व’ साहित्य और बौद्धों का ‘त्रिपिटक’ आत्मा की भूमिका पर ही खड़े हैं। बौद्ध साहित्य की 62 मिथ्यादृष्टियाँ और जैन साहित्य के 363 प्रकार के मिथ्या विचार आत्मा की सीमा से बाहर नहीं हैं। अरस्तु और प्लेटो तथा उनके अनुयायी और विरोधी दार्शनिकों ने भी आत्मा के स्वरूप पर खूब मंथन किया है। देकार्त के आत्म-अस्तित्ववाद से भी हम अपरिचित नहीं हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रंथों का अध्ययन करने पर उनका दार्शनिक चिंतन और अध्यात्मवादी मनोहारी व्यक्तित्व हर एक की आँखों के सामने खड़ा हो जाता है। सारे भारतीय दर्शनों का गंभीर अध्ययन उनके हर शब्द में झलकता है। इसी आधार पर उन्होंने 'समय' का परिशीलन किया। 'समय' के माध्यम से एक ओर उन्होंने आगमों को अपने कथ्य की आधारशिला बनाया तो दूसरी ओर उन्होंने काल की पृष्ठभूमि में आत्मा के चिंतन को आगे बढ़ाया। इस तरह आगम, काल और आत्मा का त्रिकोण बनाकर उन्होंने अपने दार्शनिक चिंतन को बड़े आकर्षक ढंग से प्रस्तुत किया। उनके टीकाकारों ने भी आत्मा की इस व्याख्या में भली-भांति उनका साथ दिया।

आचार्य कुन्दकुन्द के पूर्ववर्ती जैनतर दार्शनिक कहीं ज्ञान पर जोर देते थे तो कहीं भक्ति अथवा चारित्र्य को अपनी योग-साधना का आधार बनाते थे। जैन-परम्परा ने इन दोनों की पृथक्-पृथक् मान्यता को अस्वीकार किया और उनको मिलाकर एक तीसरे बिन्दु को खड़ा कर दिया जिसमें सभी विरोधात्मक स्वर मौन होकर एक हो गये। आचारांग, सूत्रकृतांग, षट्खंडांगम आदि महनीय आगमिक ग्रंथों में यह तथ्य बीजरूप में उपलब्ध होता है। इसी दृष्टि का पल्लवन कुन्दकुन्द ने समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय आदि ग्रंथों में विस्तार के साथ किया है। इनमें समयसार ग्रंथ कदाचित् सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण इस संदर्भ में कहा जा सकता है कि उसने आत्मा की सारी व्याख्या में अपने को खपा दिया है। समयसारगत समय शब्द की व्याख्या भाषा-विज्ञान में अनूठी मानी जानी चाहिए। कुन्दकुन्द के पहले समय शब्द की आत्मा के अर्थ में जानकारी नहीं के बराबर थी। उन्होंने काल के स्वरूप की अवधारणा को सामने रखकर समय को आत्मा के अर्थ में प्रयोग कर लिया। इस बहुआयामी शब्द के भीतर एक ओर आत्मा की समूची कल्पना भरी हुई है तो दूसरी ओर समय का संदर्भ जीवन से जुड़ा हुआ है। इन दोनों दृष्टियों के ऊपर शास्त्र (आगम) और अनुभूति की पतों लगी हुई हैं। इन पतों को साधक जैसे-जैसे उधाड़ता चला जाता है, वैसे-वैसे उसे उनमें से ज्ञान की नयी-नयी चिनगारियाँ मिलती चली जाती हैं। कुन्दकुन्द ने इन चिनगारियों के समन्वितरूप को पहली ही गाथा में 'समयपाहुड' कहकर अपने कथ्य की ओर संकेत किया है और यह भी फलश्रुति स्पष्ट कर दी है कि जो भी इस समयप्राभृत का परिपालन करेगा वह अविनाशी, निर्मल और निरूपम सिद्ध अवस्था को प्राप्त करेगा।

वंदित्तु सव्वसिद्धे, धुवमचलमणोवमं गदि पत्ते ।

वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवलीभणिदं ॥

इस गाथा में भरे हुए भावों को अमृतचन्द्राचार्य और जयसेनाचार्य ने अपने टीका-ग्रंथों में उंडेलने की भरसक कोशिश की। अमृतचंद्र के कलशों ने तो सचमुच में समयसार-रूपी मंदिर के भव्य शिखर पर स्वर्णकलश ही रख दिये हैं। उनका हर कलश अनुभूति-परक काव्य से अनुरंजित है जबकि जयसेनाचार्य ने समयसार की गाथाओं को व्यावहारिक स्तर पर खड़े होकर शब्दशः समझाने का प्रयास किया है। समयप्राभृत की व्याख्या के

प्रसंग में उन्होंने आत्मा की शुद्ध अवस्था की प्राप्ति का लक्ष्य बताया है (सम्यग् अयः बोधो यस्य भवति स समय आत्मा, अथवा समं एकीभावेनायने गमनं समयः प्राभृतं सारं सारः शुद्धावस्था समयस्यात्मनः प्राभृतं समयप्राभृतं, अथवा समय एव प्राभृतं समयप्राभृतं) ।

आत्मा की इस शुद्ध अवस्था को पाने के लिए कुन्दकुन्द ने किसी व्यक्ति विशेष का अनुगमन करने के लिए नहीं कहा है। उनकी संस्कृति में किसी का पिछलग्गू होना सबसे बुरा माना गया है। उन्होंने तो बस इतना ही कहा है कि हमें पूरी निष्ठा के साथ समन्वयवादी और शुद्धतावादी होना चाहिए। इसमें स्वानुभूति का एक महत्त्वपूर्ण रोल रहता है। इस रोल को स्पष्ट करने के लिए आगे की ही गाथा में उन्होंने समय के आधार पर स्वसमय और परसमय के रूप में वर्गीकरण किया है जिसे पारिभाषिक अर्थों में क्रमशः मुक्त और संसारी जीव कहा जा सकता है। आध्यात्मिक अथवा दार्शनिक दृष्टि से यह वर्गीकरण भले ही अलग-अलग-सा लग रहा हो परन्तु दोनों की भूमिका में दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य का समन्वय भरा हुआ है। दोनों पहलुओं में इस त्रिवर्ग का पालन श्रेणी के अनुसार होता है और उस श्रेणी में शक्ति का अंश गुंथा रहता है।

समय की शक्ति को अभिव्यक्त करने के लिए ज्ञान-दर्शन और चारित्र्य की समन्वित पुटी एक अपरिहार्य साधन है। इन तीनों से समन्वित एक ज्ञायक शुद्ध आत्मा है (जाण वो सुद्धो)। आगे इसी समन्वित दृष्टि को स्पष्ट करने के लिए कुन्दकुन्द ने 'तिग्गिण्वि आदा' कहकर इन तीनों के एक रूप को ही आत्मा का रूप माना है। इसी तथ्य के आधार पर उनके अनुवर्ती आचार्य उमास्वामी ने 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणि-मोक्षमार्गः' कहकर इस त्रिपुटी को ही सम्यक् मोक्षमार्ग बताया है। कुन्दकुन्द ने इसी को भेदाभेद रत्नत्रय कहा है। उनकी दृष्टि में व्यवहारतः भले ही इन्हें विभक्त कर दिया जाय पर निश्चय नय से इनका सम्मिलित रूप ही आराध्य है। इसे समझाने की दृष्टि से ही उन्होंने एक उदाहरण दिया है कि जैसे घनार्थी व्यक्ति पहले राजा को राजा जानकर भरोसा करता है और फिर प्रयत्न-पूर्वक तदनुकूल आचरण करके उससे घन प्राप्त करता है उसी प्रकार मोक्षार्थी जीव को भी जीवरूपी राजा को जानकर उस पर भरोसा करते हुए रत्नत्रय के अनुकूल आचरण करना चाहिए (स. सा. 19-20) ।

सांसारिक जीवन का स्वरूप संक्लेशमय है। यह संक्लेश तब पैदा होता है जब दो तत्त्व पृथक्-पृथक् होते हैं। संघर्ष दो के बिना हो नहीं सकता। बंध भी दो में ही होता है और बंध कभी न सत्य होता है और न सुखद, वह तो विस्वादा है इसलिए असत्य है। जीव जब एकत्व के साथ एक हो जाता है तो वह निर्बंध हो जाता है। यह एकाकीपन किंवा अद्वैतावस्था की प्राप्ति सुलभ नहीं होती। उसी को सुलभ बनाने का लक्ष्य समयसार का मूल अभिधेय है (स. सा. 4) ।

भारतीय दर्शन में निश्चय और व्यवहार की बात किसी न किसी रूप से सभी ने स्वीकार की है चाहे वह बौद्धदर्शन हो अथवा वैदिक परम्परा। इनकी बात करने के

बावजूद ये परम्परायें वैचारिक धरातल पर एकांगी हो जाती हैं और उनकी समन्वयात्मक दृष्टि टॉय-टॉय फिस हो जाती है परन्तु कुन्दकुन्द की गंभीर दृष्टि ने इस एकांगिता को पूरी तरह से ध्वस्त करने का जी-तोड़ प्रयत्न किया उन्होंने ज्ञायक शुद्ध आत्मा को निश्चय आत्मा अथवा स्वसमय और सांसारिक आत्मा को परसमय कहा। एक निश्चय है दूसरा व्यवहार है। निश्चय की साधना के लिए व्यवहार की साधना अपरिहार्य है। मात्र निश्चय की बात करनेवाले प्रवक्ता वस्तुतः कुन्दकुन्द के हार्द से कोसों दूर हो जाते हैं। उनका समूचा ग्रंथ-समुदाय निश्चय और व्यवहार की समन्वित साधना के लिए ही कृतसंकल्प दिखाई देता है तब मात्र निश्चय नय की बात करने से उनके अभिधेय को भूल जाने की बड़ी भारी गलती करना ही माना जा सकता है। समयसार की पीठिका में उन्होंने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है कि जिस प्रकार अनाड़ी/अपढ़/अनार्य व्यक्ति को उसकी भाषा में ही समझाया जा सकता है उसी प्रकार परमार्थ का उपदेश भी बिना व्यवहार के संभव नहीं होता और ऐसे उपदेष्टा के लिए स्वयं भी तदनुकूल मुनिवत् आचरण का परिपालक होना आवश्यक है।

जह ए वि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा दु गाहेदुं ।

तह व्यवहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं ॥ 8 ॥

व्यवहार सांसारिक जगत् से सम्बद्ध है, उसमें सारे अद्यवसान (मोहादि भाव) रहा करते हैं। यद्यपि रागादिभावपूर्वक किये गये कार्य बंध के कारण हैं परन्तु रत्नत्रय के साथ किये गये सभी कार्य सम्यक् व्यवहार की सीमा में आ जाते हैं और वे परमार्थ के साधन बन जाते हैं। दान, पूजा, प्रतिष्ठादि सारी क्रियायें व्यावहारिक हैं। आचारांग आदि का ज्ञान, नव-पदार्थों का मानना, षट्काय जीवों की रक्षा करना आदि सभी प्रकार की क्रियायें/चारित्र्य व्यवहार नय के अन्तर्गत आती हैं (स. सा. 295)। इन्हें मात्र व्यावहारिक क्रियायें कहकर छोड़ा नहीं जा सकता। ये क्रियाएँ जब सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र्य की पृष्ठभूमि में की जाती हैं तब वे परमार्थ की साधक बन जाती हैं इसलिए व्यवहार नय कुन्दकुन्द की दृष्टि में वर्जनीय नहीं माना गया बल्कि उसे मोक्ष-साधक कहा गया है अतः उन्होंने इन दोनों नयों को जाननेवाले पक्षपातविरहित व्यक्ति को ही समयसारज्ञ कहा है (स. सा. 150-151)।

कुन्दकुन्द के समस्त ग्रंथों का आलोड़न-विलोड़न करने पर यह तथ्य किसी से छिपा नहीं रहता कि उन्होंने निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयों की सयुक्तिक विवेचना कर उनमें तार्किक समन्वय का अमूल्य प्रयत्न किया। निश्चय नय की दृष्टि से आत्मा के विशुद्ध स्वरूप का सांगोपांग विवेचन तो मिलता ही है पर संसार में भ्रमण करनेवाले जीवों के लिए उन्होंने जो व्यवहार सम्यक्त्व और व्यवहार चारित्र्य का जो सुन्दर वर्णन किया है उसे पढ़कर कौन निश्चयवादी प्रवक्ता व्यवहार का अपलाप कर सकेगा। भावपाहुड़ में वर्णित चैत्य, प्रवचन और भक्ति की आराधना, (91-94), मूलगुण और उत्तरगुणों का परिपालन (113), सप्ततत्त्वचितन (115-16), चारित्र्यपाहुड़ में वर्णित

अणुव्रत-महाव्रतों का परिपालन (5-26), प्रवचनसार का समूचा चारित्र्य अधिकार, नियमसार का व्यवहारचारित्र्य के अन्तर्गत किया गया अहिंसादि व्रतों का वर्णन (56-70), नवधा-भक्ति (63), आदि का विवेचन व्यवहारचारित्र्य का अंग है जिसे भी कुन्दकुन्द ने शुभोपयोगी क्रियाओं के अन्तर्गत विधेय माना है। ये सभी शुभोपयोगी क्रियायें शुद्धोपयोग की प्राप्ति में कारण होती हैं और यही शुद्धोपयोग निर्वाण का साधन माना जाता है (सा. 13)।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि आचार्य कुन्दकुन्द समन्वयवाद के प्रस्थापक आध्यात्मिक संत थे जिन्होंने अपनी सारी रचनाओं में वस्तु के स्वरूप की यथार्थता को पूरी तरह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया। उनकी धर्म की व्याख्यायें—“वत्थु सहावो धम्मो, दंसण मूलो धम्मो, धम्मा सो हवइ अप्पसमभावो” आदि के पीछे उनका समन्वयवाद ही भरा हुआ है। जैन सिद्धांतों को सही तौर पर समझने के लिए इस समन्वयवाद को समझ लेना नितान्त आवश्यक है। पर इसके साथ ही समय की व्याख्या को भी समझना होगा। ‘समय’ का क्षेत्र वस्तुतः इतना व्यापक है कि उसमें सारा पदार्थ-जगत् समाहित हो जाता है। समयसार की विषय-वस्तु की भी यदि समीक्षा की जाय तो ऐसा लगता है कि ‘समय’ के अतिरिक्त दर्शन में और कुछ भी शेष नहीं है। जैनैतार दार्शनिकों ने ‘समय’ को न तो इतना व्यापक बनाया और न उसके चिंतन पर वे इतने अधिक मुखर हुए। इस संदर्भ में आचार्य कुन्दकुन्द की ही एक विशिष्ट देन है जिसके आलोक में दर्शन का हर पद ‘समय’ पर प्रतिष्ठित हो जाता है। एक इसी शब्द में सारा जैनदर्शन आकलित दिखाई देता है इसलिए ‘समय’ के चिंतन को समझे बिना न तो ‘समय-सार’ समझा जा सकता है और न ही जैनदर्शन। ‘समय’ की व्याख्या के प्रसंग में ही वस्तु के स्वरूप की जितनी सुन्दर और प्रासंगिक मीमांसा समयसार में मिलती है उतनी अन्यत्र नहीं। यही कारण है कि उत्तरकालीन जैनआचार्य समयसार की ही व्याख्या करते हुए नजर आते हैं उन्होंने ‘समय’ के चिंतन को पल्लवित भले ही किया है पर सामान्यतः वे कुन्दकुन्द के विचारों को छोड़ नहीं सके। जैनदर्शन का प्रारंभिक बिन्दु कुन्दकुन्द से ही शुरू होता है। उन्हें अध्यात्मवादी होने के साथ ही एक कुशल दार्शनिक भी माना जाना चाहिए। इस परिप्रेक्ष्य में यह आवश्यक है कि आधुनिक दार्शनिक चिंतन के संदर्भ में ‘समय’ परिशीलन किया जाय और उसमें कुन्दकुन्द के अवदान को स्पष्ट किया जाय। विश्वास है, अध्ययन और चिंतन की आधारशिला पर यह परिशीलन कुन्दकुन्द के व्यक्तित्व पर नया प्रकाश डालेगा और न केवल जैनदर्शन में ही बल्कि समूचे भारतीय दर्शनों में उनके विशिष्ट स्थान को निर्धारित करने में योगदान देगा।



परद्रव्य

आदसहावा अण्णं सच्चित्ताचित्तमिस्सियं हवइ ।

तं परदव्वं भणियं अवितत्थं सव्वदरसीहि ॥ 17 ॥

—आत्मस्वभाव से अन्य (जो) सचित्त-अचित्त (तथा) मिश्रित (द्रव्य) होता है, सर्वज्ञ द्वारा वह सत्यतः परद्रव्य कहा गया है ।

परदव्वरओ बज्झदि विरओ मुच्चेइ विविहकम्मिहि ।

एसो जिणउवदेसो समासदो बंधमुक्खस्स ॥ 13 ॥

—परद्रव्य में अनुरक्त (व्यक्ति) विभिन्न प्रकार के कर्मों के द्वारा बांधा जाता (है), (परद्रव्य से) अनासक्त (व्यक्ति) (कर्मों से) छुटकारा पाता है । बंध और मोक्ष के विषय में (यह) संक्षेप जिन-उपदेश है ।

परदव्ववादो दुग्गइ सहव्ववादो हु सग्गई होई ।

इय एणऊण सदव्वे कुणह रई विरय इयरम्मि ॥ 16 ॥

—निश्चय ही परद्रव्य के कारण दुर्गति (और) स्वद्रव्य के कारण सुगति होती है । इस प्रकार जानकर स्वद्रव्य में अनुराग करो (और) शेष से विरति (करो) ।

मोक्षपाहुड

आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि में भक्ति तत्त्व

—डॉ० प्रेमसागर जैन



जैनधर्म 'ज्ञानप्रधान' है, यह कथन सत्य है किन्तु उसका भक्ति से सम्बन्ध नहीं, असत्य है। जहाँ ज्ञान की भी भक्ति होती हो वहाँ भक्ति-परकता होगी ही। जैन आचार्यों ने दर्शन का अर्थ श्रद्धा ज्ञान और उसे ज्ञान के भी पहले रखा। श्रद्धा को प्राथमिकता देकर आचार्यों ने भक्ति को ही प्रमुखता दी। यहाँ तक ही नहीं, उन्होंने भक्ति-भावना के आधार पर तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध भी स्वीकार किया। उनकी भक्ति सम्बन्धी आस्था अमंदिग्ध थी। तुलसी के बहुत पहले विक्रम की पहली शती में आचार्य कुन्दकुन्द भगवान् जिनेन्द्र से ज्ञान प्रदान करने की प्रार्थना कर चुके थे।¹

आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है कि यद्यपि ज्ञान आत्मा में विद्यमान है किन्तु गुरु की भक्ति करनेवाला भव्य पुरुष ही उसे प्राप्त कर पाता है। इसका अर्थ है कि मोक्ष देनेवाला ज्ञान ज्ञानवानों की भक्ति से मिलता है।²

तीर्थंकर की दिव्यवाणी में जो कुछ खिरा आगे चलकर वह लिपिबद्ध हुआ और ग्रन्थरूप में परिणत हो सका। उसे श्रुतज्ञान की संज्ञा से अभिहित किया गया। श्रुत नाम देने का भी कारण था। जब तक तीर्थंकर की दिव्य ध्वनि लिपिबद्ध नहीं हुई, सुन-सुन कर ही याद रखी जाती थी। गुरु-शिष्य को और फिर शिष्य अपने शिष्यों को मौखिकरूप से याद करवाता था। सुन-सुन कर याद करने के मूलाधार पर ही आगे के लिपिबद्ध शास्त्र या ग्रन्थ श्रुत कहलाये और उनमें लिखा ज्ञान 'श्रुतज्ञान' कहलाया। ग्रन्थरूप होने के कारण इसे द्रव्यश्रुत कहते हैं और इसी से भावश्रुत का जन्म होता है। इसकी महिमा

आचार्य कुन्दकुन्द ने स्वीकार की थी। उन्होंने लिखा—आत्मा ज्ञानरूप है और श्रुत भी एक ज्ञान है, अतः श्रुतज्ञान भी आत्मा को जानने में पूर्णरूप से समर्थ है³। उन्होंने जिनेन्द्र को 'श्रुतप्रवर' माना और उनसे प्रार्थना की—हे जिनवर ऋषभ ! मुझे शीघ्र ही श्रुत-लाभ प्रदान करें⁴।

आचार्य कुन्दकुन्द ने तीर्थंकर की वाणी को मुख्यता दी। उन्होंने 'केवलपणत्तो धम्मो सरणं पव्वज्जामि' अर्थात् केवल-प्रणीत धर्म को अंगीकार किया। यदि वह धर्म ग्रन्थ में लिखा हुआ है तो वह ग्रन्थ वन्दनीय है। आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है—श्रुत की अर्चना, पूजा-वन्दना और नमस्कार करने से सब दुःखों और कर्मों का क्षय होता है तथा बोधिलाभ, सुगतिगमन, समाधिमरण और जिन-गुण सम्पत्ति भी प्राप्त होती है। अतः मैं अरिहन्त के द्वारा कहे गये और गणधर के द्वारा गूँथे गये महासागरप्रमाण श्रुतज्ञान को सिर झुकाकर प्रणाम करता हूँ⁵। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'समयसार' में एक स्थान पर लिखा है—'समयप्राभृत' को पढ़ कर जो उसके अर्थ में स्थित होगा वह उत्तमसुख अर्थात् मोक्ष-सुख प्राप्त करेगा⁶। यहाँ तक ही नहीं, उन्होंने भक्ति से ज्ञान प्राप्त होने की बात भी लिखी। जैन-सिद्धान्त में पाँच प्रकार के ज्ञान माने गये हैं—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान। आचार्य कुन्दकुन्द ने माना है कि ज्ञान की भक्ति से ही ज्ञान प्राप्त होता है अन्यथा नहीं। उनका यह भी कथन है कि विनय के बिना सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता⁷।

आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में लिखा है कि श्रुत भी एक ज्ञान है, अतः श्रुतज्ञान भी आत्मा को जानने में पूर्ण समर्थ है।

आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि में पंचपरमेष्ठी का चिन्तवन है। उन्होंने लिखा है—अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु मेरी आत्मा में ही प्रकट हो रहे हैं, अतः आत्मा ही मुझे शरण है⁸। परमेष्ठी की परिभाषा बताते हुए उन्होंने कहा कि जो मल-रहित, शरीर-रहित, अतीन्द्रिय, केवलज्ञानी, विशुद्धात्मा और शिवंकर हो, वही परमेष्ठी है⁹।

णमोकार मंत्र पंचपरमेष्ठी पर आधृत है। यह मंत्र सर्वशक्ति-सम्पन्न है। आज भी आबाल-वृद्ध जैन प्रतिदिन इसका जाप करते हैं। यह एक लोकप्रिय मंत्र है। इसमें पंच-परमेष्ठी को नमस्कार किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द का विश्वास है कि इस मंत्र के पढ़ने से, ध्यान से, चिन्तवन से भव-भव में सुख मिलता है,¹⁰ उन्होंने भावपाहुड की 124 वीं गाथा में लिखा है—“पंचपरमेष्ठी लोकोत्तम हैं, वीर हैं, नर, सुर तथा विद्याधरों से पूज्य हैं। संसार के दुःखाभिभूत प्राणियों के लिए वे ही एकमात्र शरण हैं। उनका स्वभाव मंगलरूप है।

आचार्य कुन्दकुन्द के द्वारा निरूपित सोलह-कारण-भावनाओं में एक अर्हद्भक्ति भी है। उनका कथन है कि अर्हन्त की भक्ति करनेवाला अल्पकाल में ही तीर्थंकर बन जाता है¹¹। आचार्य उमास्वाति ने भी तीर्थंकरत्व नाम-कर्म के उदय में अर्हद्भक्ति को प्रमुख

माना है।¹² तीर्थंकर जैन-भक्ति के प्रमुख विषय हैं। मन्दिर-चैत्यों में उन्हीं की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित रहती हैं।

संसाररूपी समुद्र जिस निमित्त से तिरा जाता है, वह ही तीर्थ है¹³। धनंजय ने द्वादशांग को तीर्थ कहा है क्योंकि उसके सहारे भव-समुद्र को पार किया जा सकता है¹⁴। आचार्य श्रुतसागर ने रत्नत्रय को तीर्थ माना है क्योंकि उसके अभाव में संसार से छुटकारा नहीं हो सकता¹⁵। श्री योगीन्दु ने आत्मा को ही तीर्थ कहा है, उसमें स्नान किये बिना कोई भी जीव संसार के दुःखों से मुक्त नहीं हो सकता¹⁶। तात्पर्य यह है कि संसार के आवागमन से मुक्त करानेवाला निमित्त तीर्थ है। उस निमित्त के जनक होने के कारण अर्हन्त को तीर्थंकर कहते हैं। जैन साहित्य तीर्थंकर की भक्ति से भरा पड़ा है। आचार्य कुन्दकुन्द तीर्थंकर को आत्मदेव मानते थे और उनके परम भक्त थे।

जैन-सिद्धान्त में आठ कर्म माने गये हैं। उनमें चार घातिया कर्म होते हैं और चार अघातिया। अर्हत्पद को प्राप्त करने के लिए तीर्थंकरत्व नामकर्म का उदय होना अनिवार्य है किन्तु 'सिद्ध' बनने के लिए ऐसी कोई अनिवार्यता नहीं होती। प्रत्येक जीव, जो अष्टकर्मों को नष्ट कर लेता है, सिद्धपद का अधिकारी हो जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द 'सिद्ध' के परम भक्त थे। एक भक्त को आराध्य की शरण में जाने से जो प्रसन्नता उपलब्ध होती है वही उन्हें सिद्धों की शरण में जाने से मिली थी¹⁷। उन्होंने कहीं तो सिद्धों की महिमा के गीत गाये हैं, कहीं उनको शीश झुकाकर नमस्कार किया है, कहीं वन्दना की है। उनका दृढ़ विश्वास है कि सिद्धों की भक्ति से परम शुद्ध सम्यग्ज्ञान प्राप्त होता है¹⁸। केवलज्ञान ही नहीं अपितु भक्त को वह सुख भी मिलता है जो सिद्धों के अतिरिक्त अन्य को उपलब्ध नहीं है।¹⁹

पं० आशाधर ने 'सिद्ध' की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है—सिद्धि स्वात्मोपलब्धिः संज्ञाता यस्येति सिद्धः²⁰, अर्थात् स्वात्मोपलब्धि स्वरूप सिद्धि जिसको प्राप्त हो गई है वह ही सिद्ध है। आचार्य कुन्दकुन्द का 'परिसमाप्त कार्य'²¹ इसी स्वात्मोपलब्धिरूप कार्य को पूरा करने की बात कहता है। आचार्य यतिवृषभ ने भी 'अट्टविहकम्मविपला' से आठ कर्मों के क्षय होने और 'सिद्धिय कज्जा'²² से स्वात्मोपलब्धिरूप कार्य को पूरा करने का ही निर्देश किया है।

दर्शन और ज्ञान ही नहीं, चारित्र्य का भी अपना महत्त्व है। केवल सम्यग्दर्शन और ज्ञान से ही मोक्ष नहीं मिलता, सम्यक्चारित्र्य का होना भी परमावश्यक है। आचार्य कुन्दकुन्द की मान्यता है कि पूर्ण चारित्र्य पाल कर मोक्ष गये हुए सिद्धों की वन्दना से बिगड़ा हुआ चारित्र्य सुधरता है और मोक्ष-सुख प्राप्त होता है²³। उन्होंने पाँच प्रकार के चारित्र्य की भक्ति की बात की है और इस भक्ति से कर्म-मल नष्ट हो जाता है, ऐसा लिखा है²⁴।

श्रमणधर्म योग-धर्म है। मोहन-जो-दरो और हड़प्पा की खुदाइयों में खड्गासनमुद्रा और नासाग्रस्थित दृष्टि मूर्तियाँ मिली हैं। भारतीय और विदेशी पुरातत्त्वविदों की दृष्टि में वे श्रमण योगियों की मूर्तियाँ हैं। श्रमण योगी थे। आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है कि योगियों की अञ्जलि बाँधकर वन्दना करनी चाहिए²⁵। उन्होंने योगि-भक्ति में एक-दूसरे स्थान पर लिखा है—‘ज्ञानोदक से अभिषिक्त, शीलगुण से विभूषित, तपसुगन्धि से सुगन्धित, राग-द्वेष से रहित और शिव-पथ के साधक योगियों को नमस्कार करना चाहिए²⁶।

इन्हीं आचार्य ने तिरुक्कुरल में लिखा है—“यदि तुम इन्द्रियों के जीतनेवाले योगियों की शक्ति को मापना चाहते हो तो देवों के सम्राट् इन्द्र की ओर देखो जो उनकी भक्ति में सदैव तल्लीन रहता है²⁷।

पंचपरमेष्ठी के तीसरे स्तम्भ हैं—आचार्य। कुन्दकुन्दाचार्य ने आचार्यों को प्रणाम किया है किन्तु उन्हीं को जो उत्तमक्षमा, प्रसन्नभाव, वीतरागता और तेजस्विता से युक्त हैं तथा जो गगन की भाँति निर्लिप्त और सागर की भाँति गम्भीर हैं²⁸।

आचार्यों की भक्ति से सम्यग्ज्ञान प्राप्त होता है। कुन्दकुन्द का कथन है—‘मुझ अज्ञानी के द्वारा आपके गुणों की जो भक्ति की गई है वह मुझे बोधि-लाम देवे, ऐसी प्रार्थना है²⁹। एक दूसरे स्थान पर इन्हीं आचार्य का कथन है—आचार्यों की भक्ति करने-वाला, अष्ट कर्मों को नाश करके संसार समुद्र के पार हो जाता है³⁰।

आचार्य कुन्दकुन्द ने चैत्यवन्दन पर अधिकाधिक बल दिया है। उन्होंने ‘बोधपाहुड’ की नौवीं गाथा में स्पष्ट लिखा है कि बिम्ब या मूर्ति को चैत्य कहते हैं। चैत्य शब्द किसी भूतावास या वृक्ष का द्योतक नहीं है अपितु बिम्ब या मूर्ति को कहनेवाला है³¹। तो, चैत्य-वन्दन का अर्थ हुआ किसी बिम्ब या मूर्ति की वन्दना।

बोधपाहुड की आठवीं गाथा में उन्होंने शुद्ध ज्ञानरूप आत्मा को भी चैत्य कहा है और ऐसी आत्मा को धारण करनेवाले वीतरागी मुनि को चैत्यगृह माना है। बोधपाहुड की नौवीं गाथा में उनका कथन है कि चैत्यभक्ति से सातिशय पुण्यबन्ध होता है। यह सातिशय पुण्यबन्ध महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह क्रमशः मोक्ष का कारण बनता है। अर्थात् ज्ञानरूप आत्मा चैत्य है और उसकी भक्ति से मोक्ष प्राप्त होता है, ऐसी आचार्य कुन्दकुन्द की मान्यता है।

पूरा समयसार, जो भारतीय दर्शन का मानस्वरूप है, ‘आत्मा ही ज्ञान है’ की बात कहता है। आचार्य कुन्दकुन्द की यह मान्यता है कि ज्ञान होता है ज्ञानियों की भक्ति से।

एतदर्थ, आचार्य कुन्दकुन्द ने अनगारों से अपने पूरे संघ के लिए समाधि-मरण माँगा है³²। याचना करते हुए उन्होंने लिखा है—‘दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो,

सुगङ्गमरण, समाहिमरणं, जिणगुणसम्पत्ति होउ मज्झ³³ ।' इसका अर्थ है कि दुःखों का क्षय करनेवाला, कर्मों को नष्ट करनेवाला, ज्ञान-प्रदाता, सुगति देनेवाला जिनगुणसम्पत्तिरूप समाधिमरण मुझे प्राप्त हो । निष्कर्ष है कि अनगारों की यदि कृपा हो और वे वरदान दें तो यह समाधिमरणरूपी धन मिल सकता है ।

साधु के लिए समाधिमरण एक अनिवार्य तत्त्व है । साधु को समाधिमरण भी सौभाग्य से ही मिलता है ।

आचार्यकुन्दकुन्द तीर्थ-क्षेत्रों के परम भक्त थे । उन्होंने 'निर्वाणभक्ति' में लिखा है— इस मर्त्यलोक में जितने भी पंचकल्याणों से सम्बन्धित स्थान हैं, मैं उन सब को मन-वचन-काय की शुद्धि से सिर भुका कर नमस्कार करता हूँ³⁴ । यहाँ तक ही नहीं, उन्होंने सातिशय तीर्थक्षेत्रों को भी पूज्य माना है³⁵ ।

उनका कथन है—'अष्टापद-कैलाश पर्वत से वृषभनाथ, चंपापुर से वासुपूज्य, उर्जयन्त से नेमिनाथ, पावापुर से महावीर और अरविशष्ट 20 तीर्थकर सम्मेदशिखर से मोक्ष गये, उन सभी को हमारा नमस्कार हो³⁶ ।

1. भावपाहुड, 149 ।
2. भावपाहुड, 152 ।
3. समयसार, सम्पादक, पं० परमेश्वरीदास, गाथा 10 ।
4. आचार्य कुन्दकुन्द, श्रुतिभक्ति-11 ।
5. दशभक्ति, शोलापुर, 1921 ई०, पृ-126 ।
6. समयसार, 415 ।
7. भावपाहुड, 149 ।
8. मोक्षपाहुड, 104 ।
9. मोक्षपाहुड, 6 ।
10. प्राकृत पंचगुरुभक्ति, 7 ।
11. भावपाहुड, 79 ।
12. तत्त्वार्थसूत्र, मथुरा, 6.24, पृष्ठ 153 ।
13. पं० आशाधर, जिनसहस्रनाम, 9.46, स्वोपज्ञवृत्ति, पृ० 78 ।
14. धनंजय नाममाला, 126वें श्लोक का भाष्य ।
15. पं० आशाधर, जिनसहस्रनाम, श्रुतसागरीय टीका, 4.48, पृ० 165 ।
16. योगीन्दु, परमात्मप्रकाश, ब्रह्मदेव की टीकासहित, 1.95, पृ० 98 ।
17. दशभक्ति, कुन्दकुन्द, शोलापुर, 1931 ई०, सिद्धभक्ति, पृ० 66 ।
18. वही, पृष्ठ 58 ।

19. वही, पृष्ठ 58 ।
20. पं० आशाधर, जिनसहस्रनाम, स्वोपज्ञवृत्ति, पृष्ठ 139 ।
21. आचार्य कुन्दकुन्द, सिद्धभक्ति, पहली गाथा ।
22. आचार्य यतिवृषभ, तिलोयपण्णत्ति, श्लोक 1 ।
23. दशभक्ति, पृष्ठ 158 ।
24. वही, पृष्ठ 152 ।
25. आचार्य कुन्दकुन्द, योगिभक्ति, गाथा 1 ।
26. वही 24 ।
27. कुरलकाव्य, पं० गोविन्दराम जैन, संस्कृत-हिन्दी अनुदित, मुनि माहात्म्यम्, संस्कृत, 5वां श्लोक ।
28. कुन्दकुन्द, आचार्य भक्ति, 5 ।
29. वही, 10 ।
30. दशभक्ति, शोलापुर, पृष्ठ 213-14 ।
31. बोधपाहुड, 9 (जयचन्द छाबड़ा कृत अनुवाद) ।
32. आचार्य कुन्दकुन्द, योगिभक्ति, 23 ।
33. आचार्य कुन्दकुन्द, प्राकृत भक्तियाँ, अन्तभाग ।
34. आचार्य कुन्दकुन्द, निर्वाणभक्ति, 23 ।
35. वही, 25 ।
36. वही, 1, 2 ।



समयसार का दार्शनिक पृष्ठ

—डॉ० दरबारीलाल कोठिया



प्राथमिक

‘समयसार’ आचार्य कुन्दकुन्द की, जिन्हें शिलालेखों में ‘कोण्डकुन्द’ के नाम से उल्लेखित किया गया है,¹ एक उच्चकोटि की आध्यात्मिक रचना है। यों उन्होंने अनुश्रुति के अनुसार 84 पाहुड़ों (प्राभूतों, उपहारस्वरूप, प्रकरणग्रन्थों) तथा आचार्य पुष्पदन्त-भूतबली द्वारा रचित ‘षट्खण्डागम’ मूलागम की विशाल टीका की भी रचना की थी। पर आज वह समग्र ग्रन्थ-राशि उपलब्ध नहीं है फिर भी उनके जितने ग्रन्थ प्राप्त हैं वे इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि उनसे समग्र जैन वाङ्मय समृद्ध एवं देदीप्यमान है। उनके इन उपलब्ध ग्रन्थों का जिनकी संख्या 21 है, परिचय हमने अन्यत्र दिया है।²

ध्यातव्य है कि कुन्दकुन्द ने अपने तमाम ग्रन्थ उस समय की प्रचलित प्राकृत, पाली और संस्कृत इन तीन प्राच्य भारतीय प्रमुख भाषाओं में से प्राकृत में रचे हैं। प्रश्न हो सकता है कि कुन्दकुन्द ने अपनी ग्रन्थ-रचना के लिए प्राकृत को ही क्यों चुना ? पाली या संस्कृत को क्यों नहीं ? इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि प्राकृत साधारण-जनभाषा थी, उसके बोलनेवाले सामान्यजन अधिक थे और कुन्दकुन्द तीर्थंकर महावीर के उपदेश को जन-साधारण तक पहुँचाना चाहते थे। दूसरे, षट्खण्डागम, कषायपाहुड जैसे दिगम्बर आगम-ग्रन्थों के प्राकृत (शौरसेनी) में निबद्ध होने से उसकी सुदीर्घ परम्परा भी उन्हें प्राप्त थी। अतएव अपनी ग्रन्थ-रचना के लिए उन्होंने प्राकृत को ही अपनाना उपयुक्त समझा। उनकी यह प्राकृत शौरसेनी-प्राकृत है। यद्यपि कुन्दकुन्द की मातृ-भाषा

तमिल थी और वे तमिलभाषी थे किन्तु अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के नेतृत्व में उत्तरभारत से दक्षिण भारत में जो विशाल मुनि-श्रावक संघ गया था और जो शौरसेनी प्राकृत का पूरा अभ्यासी था, उससे कुन्दकुन्द बहुत प्रभावित और उस भाषा के प्रकाण्ड पण्डित बने होंगे, तभी उन्होंने शौरसेनी प्राकृत में विपुल ग्रन्थ रचे। उनका तमिल भाषा में रचा एकमात्र ग्रन्थ 'कुरल' उपलब्ध है, जिसे तमिलभाषी 'पंचमवेद' के रूप में मानते हैं। कुन्दकुन्द के उत्तरवर्ती शतशः आचार्यों ने भी शौरसेनी प्राकृत में प्रचुर ग्रन्थों की रचना की है। शौरसेनी प्राकृत साहित्य के निर्माताओं में आचार्य कुन्दकुन्द का निस्संदेह मूर्धन्य स्थान है। वे यशस्वी प्राकृत साहित्यकार के अतिरिक्त मूलसंघ के गठन-कर्ता के रूप में भी इतने प्रभावशाली रहे हैं कि शिलालेखों और मूर्तिलेखों के सिवाय शास्त्र-प्रवचन के आरम्भ में और मंगल क्रियाओं के अवसर पर 'मंगलं भगवान् वीरो' आदिपद्य द्वारा तीर्थंकर महावीर और उनके प्रथम गणधर गौतम इन्द्रभूति के पश्चात् उनका भी बड़ी श्रद्धा के साथ स्मरण किया जाता है।³ इससे आचार्य कुन्दकुन्द का एक महान् एवं प्रामाणिक आचार्य के रूप में सर्वाधिक महत्त्व प्रकट होता है तथा उनके धवल यश की प्रचुरता ख्यापित होती है।

समयसार-समयपाहुड

उनकी इस महत्त्वपूर्ण कृति का मूल नाम समयसार है या समयपाहुड? मूलग्रन्थ का आलोड़न करने पर विदित होता है कि इसका मूल नाम 'समयपाहुड' है। कुन्दकुन्द ने स्वयं ग्रन्थ के आरम्भ में मंगलाचरण एवं ग्रन्थ-प्रतिज्ञा गाथा में समस्त सिद्धों की वन्दना करके 'समयपाहुड' ग्रन्थ के कथन करने का निर्देश किया है⁴ और ग्रन्थ का समापन करते समय भी उसका इसी नाम से समुल्लेख किया है।⁵ इससे अवगत होता है कि ग्रन्थकार को इसका मूल नाम 'समयपाहुड' (समयप्राभृत) अभिप्रेत है। चूँकि इसमें उन्होंने समय-आत्मा के सार-शुद्धरूप का कथन किया है, इससे उसे 'समयसार' भी कहा जा सकता है। कुन्दकुन्द ने गाथा 413 में इस नाम का भी उल्लेख किया है⁶ किन्तु यहाँ उन्होंने 'समयपाहुड' के वाच्य शुद्ध आत्मा के अर्थ में 'समयसार' पद का प्रयोग किया है। उत्तर काल में तो 'समयपाहुड' के प्रथम व्याख्याकार आचार्य अमृतचन्द्र (दशवीं शताब्दी) ने वाच्य और वाचक दोनों में अभेद-विवक्षा से (एक मानकर) 'समयपाहुड' (वाचक) को ही 'समयसार' (वाच्य) कहा है और इसी आधार पर उन्होंने अपनी व्याख्या के आद्य मंगलाचरण में 'नमः समयसाराय' आदि पद्य द्वारा 'समयसार' का उल्लेख करके उसे नमस्कार किया है⁷ और उसे सर्वपदार्थों से भिन्न चित्स्वभावरूप भाव (पदार्थ) निरूपित किया है तथा वे यह मानकर चले हैं कि 'समयसार' 'समयपाहुड' ही है। अतएव वे यह कहते हैं⁸ कि 'समयसार' की व्याख्या के द्वारा ही मेरी अनुभूति की परमशुद्धि हो। ऐसा भी नहीं कि अमृतचन्द्र 'समयपाहुड' नाम से अपरिचित हों, क्योंकि पहली गाथा की व्याख्या में न केवल उसका उन्होंने उल्लेख किया है, अपितु उसे 'अर्हत्प्रवचनावयव' कहकर उसका महत्त्व भी प्रकट किया है।⁹ वास्तव में उनकी दृष्टि नाम की अपेक्षा उसके अर्थ की ओर अधिक है क्योंकि नाम तो पौद्गलिक (शब्दात्मक) है और अर्थ चित्स्वभावी शुद्ध आत्मा है। इसी कारण

उन्हें इस ग्रन्थ को 'समयसार' कहने और उसकी महिमा गाने में अपरिमित आनन्द आता है। आगे भी उन्होंने गाथाओं पर रचे कलशों और उनकी व्याख्या में 'समयसार' नाम का ही निर्देश किया है।¹⁰ आचार्य अमृतचन्द्र के बाद तो आचार्य जयसेन ने भी अपनी 'तात्पर्य-वृत्ति' (व्याख्या) में 'समयसार' नाम ही दिया है¹¹ और 'प्राभूत' का अर्थ 'सार' करके उससे उन्होंने 'शुद्धावस्था' का ग्रहण किया है।¹² पं. बनारसीदास, पं. जयचन्द आदि हिन्दी-टीकाकारों ने भी 'समयसार' नाम को ही ज्यादा अपनाया है। यह नाम इतना लोकप्रिय हुआ कि आज भी जन-जन के कण्ठ पर यही नाम विद्यमान है 'समयपाहुड' नाम कम, किन्तु ग्रन्थ का मूल नाम 'समयपाहुड' ही है जो ग्रन्थकर्ता आचार्य कुन्दकुन्द को अतिशय अभीष्ट है।

समयसार में दार्शनिक दृष्टि

समयपाहुड अथवा समयसार मूलतः आध्यात्मिक कृति है। इसमें आचार्य कुन्दकुन्द ने आरम्भ से लेकर अन्त तक शुद्ध आत्मा का ही प्रतिपादन किया है और उसी का श्रद्धान, उसी का ज्ञान और उसी को प्राप्त कर उसी में स्थिर होने-रमने पर पूरा बल दिया है।¹³ यही कारण है कि उन्होंने मंगलाचरण में भी अरहन्तों को नमस्कार न करके पूर्ण शुद्ध अबद्ध और प्रबुद्ध समस्त सिद्धों की वन्दना की है।¹⁴ शुद्ध आत्मा को उन्होंने दर्शन के द्वारा प्रदर्शित किया है। दर्शन का प्रयोजन है किसी भी वस्तु की सिद्धि प्रमाण से करना। कुन्दकुन्द ने उस एकत्व-विभक्त शुद्धात्म-तत्त्व की सिद्धि स्पष्टतया स्वविभव (युक्ति, अनुभव और आगम से प्राप्त ज्ञान) द्वारा करने की घोषणा की है।¹⁵ स्वविभव को स्पष्ट करते हुए व्याख्याकारों ने कहा है¹⁶ कि कुन्दकुन्द का वह विभव आगम, तर्क, परमगुरुरूपदेश और स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है। इनके द्वारा ही उस शुद्ध आत्मा को इस समयसार में सिद्ध किया गया है।

आत्माद्वैतवादी उपनिषदों एवं वेदान्त दर्शन में¹⁷ भी आत्मा को सुनने के लिए श्रुतिवाक्यों, मनन (अनुमान) करने के लिए उपपत्तियों (युक्तियों) और स्वयं अनुभव करने के लिए स्वानुभव प्रत्यक्ष (निदिध्यासन) इन तीन प्रमाणों को स्वीकार किया गया है। उस प्राचीन समय में किसी भी वस्तु की सिद्धि इन्हीं तीन प्रमाणों से की जाती थी। सांख्यदर्शन ने भी अपने तत्त्वों की सिद्धि के लिए यही तीन प्रमाण माने हैं।¹⁸ अतः कुन्दकुन्द द्वारा दर्शन के अंगभूत इन तीन प्रमाणों से उस शुद्ध आत्मा को सिद्ध करना स्वामाविक है।

समयपाहुड स्वर्हचिविरचित नहीं : आगम और युक्ति का प्रस्तुतीकरण

सबसे पहले कुन्दकुन्द यह स्पष्ट करते हैं कि मैं उस 'समयपाहुड' को कहूँगा जिसका प्रतिपादन केवली, श्रुतकेवली और आगम द्वारा किया गया है। इससे वे अपने 'समयपाहुड' को स्वर्हचिविरचित न होने एवं केवली तथा श्रुतकेवली कथित होने से प्रमाण-सिद्ध करते हैं। इसके अतिरिक्त 'सुदकेवलीभरण्यं' (श्रुतकेवलीकथित) यह पद प्रथमा विभक्ति का

होते हुए भी हेतुपरक है। यहाँ वह 'समयपाहुड' की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए हेतु रूप में प्रयुक्त किया गया है। न्यायशास्त्र में प्रथमा-विभक्तिवाला पद भी हेतुरूप में भी स्वीकार किया गया है।¹⁹ अतः इस हेतुरूप पद के द्वारा कुन्दकुन्द ने अपने 'समयपाहुड' को प्रामाणिक सिद्ध किया है।

समयसार में दर्शन

यहाँ हम ऐसे तथ्य प्रस्तुत करेंगे जिनके आधार पर यह ज्ञात होगा कि समयसार में आचार्य कुन्दकुन्द ने अनेक स्थलों पर दर्शन के माध्यम से शुद्ध आत्मा को प्रदर्शित किया है। वे इस प्रकार हैं—

1. समयसार गाथा 5 में कुन्दकुन्द कहते हैं—'मैं अनुभव, युक्ति और आगमरूप अपने वैभव से उस एकत्व-विभक्त शुद्ध आत्मा को दिखाऊँगा। यदि दिखाऊँ तो उसे प्रमाण (सत्य) स्वीकार करना और कहीं चूक जाऊँ तो छल नहीं समझता।' यहाँ उन्होंने शुद्धात्मा को दिखाने के लिए अनुभव (प्रत्यक्ष), युक्ति (अनुमान) और आगम इन तीन प्रमाणों को स्पष्ट स्वीकार किया है। उनके कुछ ही उत्तरवर्ती आचार्य गृह्यपिच्छ²⁰ और स्वामी समन्तभद्र²¹ जैसे दार्शनिकों ने भी इन्हीं तीन प्रमाणों से अर्थ (वस्तु) का स्वरूपण माना है और उसे भगवान् महावीर का उपदेश कहा है। कुन्दकुन्द के उक्त कथन में स्पष्टतया दर्शन समाविष्ट है और यह तथ्य है कि दर्शन प्रमाण के बिना आगे नहीं बढ़ता। प्रमाण तो उसके अंग हैं।

2. कुन्दकुन्द गाथा 3 में बतलाते हैं²² कि प्रत्येक पदार्थ अपने एकपने में सुन्दर, स्वच्छ-अच्छा, भला है और इसलिए लोक में सभी पदार्थ सब जगह अपने एकपने को प्राप्त होकर सुन्दर बने हुए हैं। किन्तु उस एकपने के साथ दूसरे का बन्ध होने पर भगड़े होते हैं और उसकी सुन्दरता (स्वच्छता-एकता) नष्ट हो जाती है। वास्तव में मिलावट असुन्दर होती है, जिसे लोक भी पसन्द नहीं करता और अमिलावट (खालिस-एकपना) सुन्दर है जिसे सभी पसन्द करते हैं। यह सभी के अनुभवसिद्ध है। कुन्दकुन्द कहते हैं कि जब सब पदार्थों का अपना एकत्व ही सुन्दर है तो एकत्व-विभक्त आत्मा सुन्दर क्यों नहीं होगा।

3. जब कुन्दकुन्द से किसी शिष्य ने प्रश्न किया—'वह एकत्व-विभक्त शुद्ध आत्मा क्या है?' उसका उत्तर देते हुए कहते हैं—'जो न अप्रमत्त है—अप्रमत्त (सातवां) आदि से अयोगी (चौदहवें) पर्यन्त गुरास्थानों वाला है और न प्रमत्त है—मिथ्यादृष्टि आदि प्रमत्त पर्यन्त गुरास्थानों वाला है, मात्र ज्ञायकस्वभाव पदार्थ है वही एकत्व-विभक्त शुद्ध आत्मा है। उसके ज्ञान, दर्शन और चारित्र का भी उपदेश व्यवहारनय से है, निश्चयनय से न ज्ञान है, न चारित्र है और न दर्शन है। वह तो एक शुद्ध ज्ञायक ही है।' कुन्दकुन्द का यह गुरास्थान-विभाग और नयविभाग से कथन आगम प्रमाण पर आधृत है।

4. यह शिष्य पुनः प्रश्न करता है कि 'हमें तो एकमात्र परमार्थ (शुद्ध निश्चयनय) का ही उपदेश दीजिए। व्यवहार-अशुद्ध नय की चर्चा यहाँ (एकत्व-विभक्त

शुद्ध आत्मा के प्रदर्शन में) अनावश्यक है क्योंकि वह परमार्थ का दिग्दर्शक नहीं है?' इसका उत्तर आचार्य कुन्दकुन्द एक उदाहरण द्वारा व्यवहारनय की आवश्यकता को भी प्रकट करते हुए कहते हैं²⁴—'जैसे अनार्य को उसकी भाषा के बिना वस्तु का स्वरूप (अनेकान्त आदि) समझाना अशक्य है और उसकी भाषा बोलकर उसे उसका स्वरूप समझाना शक्य है उसी प्रकार संसारी जीवों को व्यवहारनय के बिना एकत्व-विभक्त शुद्ध आत्मा का स्वरूप समझाना भी अशक्य है, इसलिए उसकी आवश्यकता है।' यहाँ कुन्दकुन्द ने अनुमान के एक अवयव उदाहरण को स्वीकार कर स्पष्टतया दर्शन को स्वीकारा है।

5. यों तो अध्यात्म में निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों को यथास्थान महत्त्व प्राप्त है किन्तु अमुक अवस्था तक व्यवहार ग्राह्य होते हुए भी उसके बाद वह छूट जाता है या छोड़ दिया जाता है। निश्चयनय उपादेय है। व्यवहार जहाँ अभूतार्थ है वहाँ निश्चयनय भूतार्थ है। इस भूतार्थ का आश्रय लेने से वस्तुतः जीव सम्यग्दृष्टि होता है।²⁵ आचार्य कुन्दकुन्द ने गाथा 11 व 12 में यही सब प्रतिपादन किया है। यहाँ भी उनका स्याद्वाद समाहित है जो तीर्थंकरों का उपदेश है। यहाँ हम आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा इस ग्रन्थ की व्याख्या (गाथा-12) में उद्धृत एक प्राचीन गाथा को देने का लोभ संवरण नहीं कर सकते। वह इस प्रकार है—

जइ जिरामयं पवज्जइ ता मा व्यवहार-णिच्छए मुयह ।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उए तच्चं ॥

—यदि जिनमत की प्रवृत्ति-प्रचार चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनों को मत छोड़ो। व्यवहार को छोड़ देने पर तीर्थ का उच्छेद हो जायगा और निश्चय को छोड़ देने पर तत्त्व (स्वरूप) का नाश हो जावेगा। अतः दोनों नय सम्यक् हैं और ग्राह्य हैं।

6. यथार्थ में नयों के द्वारा वस्तु को समझना और समझाना दर्शनशास्त्र का विषय है। आचार्य गृद्धपिच्छ ने 'प्रमाणनयैरधिगमः' (त. सू. 1-6) इस सूत्र द्वारा स्पष्ट बतलाया है कि जहाँ प्रमाण वस्तु को जानने का साधन है वहाँ नय भी उसे जानने का साधन है इसलिए प्रमाण और नय दोनों को न्याय कहा गया है।²⁶ दोनों में अन्तर यही है कि जहाँ प्रमाण अखण्ड वस्तु (धर्मों) को ग्रहण करता है वहाँ नय उसके अंशों (धर्मों) को जानते हैं। अतः कुन्दकुन्द का निश्चय और व्यवहार नयों द्वारा विवेचन उनकी दार्शनिक दृष्टि को प्रदर्शित करता है। इन दोनों में भेद बतलाते हुए वे कहते हैं कि व्यवहारनय तो जीव और देह को एक कहता है पर निश्चयनय कहता है कि जीव और देह ये दोनों कभी एक पदार्थ नहीं हो सकते।²⁷

7. शिष्य पूछता है कि आत्मा में कर्म बद्ध-स्पृष्ट है या अबद्ध-स्पृष्ट है? इसका कुन्दकुन्द नय विभाग से ही उत्तर देते हुए कहते हैं²⁸ जीव में कर्म बद्ध (जीव के प्रदेशों के साथ बंधा हुआ) है और संयोग होने से लगा हुआ है, ऐसा व्यवहारनय कहता है तथा जीव में कर्म न बंधा हुआ है और न लगा हुआ है, ऐसा शुद्ध नय बतलाता है। यहाँ भी कुन्दकुन्द

शिष्य के प्रश्न का समाधान नय विभाग (स्याद्वादसरणि) से देते हैं। इससे उनकी दार्शनिकता स्पष्ट विदित होती है। इसके सिवाय एक महत्त्वपूर्ण बात वे और कहते हैं²⁹ कि जीव में कर्म बंधे हुए हैं और नहीं बंधे हुए हैं, ये दोनों एक-एक पक्ष (नयदृष्टि) हैं। किन्तु जो इन दोनों पक्षों से अतीत (रहित) है वही समयसार (शुद्ध आत्मतत्त्व) है।

8. कुन्दकुन्द भेदविज्ञान की सिद्धि करते हुए कहते हैं³⁰ कि उपयोग में उपयोग है, क्रोधादिक में उपयोग नहीं है, वास्तव में क्रोध में ही क्रोध है, उपयोग में क्रोध नहीं है, आठ प्रकार के कर्मों में तथा शरीर आदि नोकर्मों में भी उपयोग नहीं है और उपयोग में कर्म तथा नोकर्म भी नहीं हैं। जिस काल में ऐसा यथार्थ ज्ञान होता है उस काल में उपयोगस्वरूप शुद्ध आत्मा उपयोग के सिवाय अन्य कुछ भी भाव नहीं करता। ऐसा भेद-विज्ञान ही अभिनन्दनीय है और इस भेदविज्ञान से ही उसी प्रकार शुद्ध आत्मा की उपलब्धि होती है जिस प्रकार अग्नि से तपा हुआ सोना भी अपने स्वर्णस्वभाव को नहीं छोड़ता, ज्ञानी जीव भी कर्मोदय से तप्त होने पर भी अपने ज्ञानस्वभाव को नहीं छोड़ता। सच तो यह है कि जीव शुद्ध को जानेगा तो शुद्ध की ही उपलब्धि होगी और यदि वह अशुद्ध को जानता है तो उसे अशुद्ध आत्मा की ही प्राप्ति होगी। यह और आगे जितना और जो भी कुन्दकुन्द का चिन्तन है वह सब दर्शन है, दर्शनशास्त्र है।

9. शिष्य प्रश्न करता है कि बन्ध कैसे टूटता है? कुन्दकुन्द उसका उत्तर देते हुए कहते हैं³¹ कि बन्ध न तो उसके स्वरूपज्ञान से टूटता है और न उसकी चिन्ता करने से वह नष्ट होता है अपितु जैसे बन्धन में बंधा हुआ पुरुष उस बन्धन को तोड़कर ही मुक्त होता है उसी प्रकार जीव भी कर्म के बन्धन को छेदकर ही मुक्ति प्राप्त करता है। यहाँ उन्होंने पुरुषार्थ (चारित्र्य) पर पूरा बल दिया है।

10. आत्मा के कर्तृत्व को लेकर श्रमणों में जो अनेक मत प्रचलित थे उन सबकी समालोचना कुन्दकुन्द ने गाथा 321, 322 और 323 में की है और कहा है कि लोक और श्रमणों के कथन में क्या भेद रहेगा? लोक विष्णु को कर्ता मानते हैं और श्रमण आत्मा को। इस प्रकार दोनों को ही मोक्ष सम्भव नहीं। कर्म में कर्तृत्व मानने पर सांख्य-मत के प्रसंग का दोष देकर सांख्य-मत को भी उन्होंने प्रदर्शित किया है।³² कहा है—“तेसिं पयडी कुब्बइ अण्णा य अकारया सव्वे।”—‘प्रकृतिः कर्त्री पुरुषस्तु अकर्ता’-प्रकृति कर्त्री है और पुरुष (आत्मा) अकर्ता है। कई मतों का और भी कुन्दकुन्द ने दिग्दर्शन किया है। इसी प्रकरण में वे पुनः सांख्य मत को दिखाते हुए कहते हैं³³ जो करता है वह वेदन नहीं करता—भोगता नहीं है। क्षणिकवादी बौद्धों का भी वे मत देते हैं³⁴ ‘अन्य (क्षण) करता है और अन्य (क्षण) भोगता है।’ ऐसे लोगों को क्या कहा जाय! उन्हें सत्य के परे ही जानना चाहिए।

इस प्रकार समयसार में जहाँ एक अध्यात्म-पृष्ठ है वहाँ हम दूसरा दार्शनिक पृष्ठ भी देखते हैं। वस्तुतः बिना दर्शन के अध्यात्म को न समझा जा सकता है और न उसे प्राप्त किया जा सकता है। कुन्दकुन्द का चिन्तन समयसार में इतना गाढ़ा हो गया है कि

लगता है कि उन्होंने इसे जीवन के अन्त में तब बनाया है जब वे इसके पूर्व कई ग्रन्थ रच चुके थे और समकालीन दार्शनिक मान्यताओं का अच्छी तरह अभ्यास कर चुके थे। तभी वे इसमें अपने समग्र मुनि-जीवन और आगमाभ्यास से अर्जित अनुभव को अस्खलित भाव से विन्यास कर सके। यह निःसन्देह अमृत-कलश है।

ओं शान्तिः ।

1. वन्द्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्दः कुन्दप्रभा-प्रणयि-कीर्ति-विभूषिताशः ।
यशचारुचारण-कराम्बुज-चंचरीकश्चक्रे श्रुतस्यभरते प्रयतः प्रतिष्ठाम् ॥
—श्रवणबेलगोला, चन्द्रगिरि-शिलालेख ।
.....कौण्डकुन्दो यतीन्द्रः ॥
रजौभिरस्पृष्टतमत्वमनतर्बाह्योऽपि संव्यंजयितुं यतीशः ।
रजः पदं भूमितलं विहाय चचार मन्ये ततुरंगलं संः ॥
—श्रवणबेलगोला, विन्ध्यगिरि शिलालेख ।
2. डॉ० दरबारीलाल कोठिया, 'आचार्य कुन्दकुन्द का प्राकृतवाङ्मय और उनकी देन' शीर्षक लेख, 'जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्रपरिशीलन' पृ. 24 से 30, वी. से. मं. ट्रस्ट ।
3. मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी ।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलं ।
—शास्त्र-प्रवचन का मंगलाचरण पद्य ।
4. वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गदि पत्ते ।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवलीभणियं ॥ 1 ॥ समयसार
5. जो समय पाहुडमिरां पढिदूरा य अत्थतच्चदो णादुं ।
अत्थे ठाहिदि चेदा सो होहिदि उत्तमं सोक्खं ॥ 415 ॥ समयसार
6. पासंडिय लिंगेसु व गिर्हिलिंगेसु व बहुप्पयारेसु ।
कुव्वंति जे ममत्तं तेहि ण णादं समयसारं ॥ 413 ॥ समयसार
7. नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते ।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे । 1 ।
—समयसार कलश
8. समयसार कलश, 3 ।
9. ".....समयप्रकाशकस्य प्रभृताह्वयस्यार्हत्प्रवचनावयवस्य स्वपरयोरनादि-
मोहप्रहाणाय भाववाचा द्रव्यवाचा व परिभाषणमुपक्रम्यते ।"
—वही, गाथा 2 की व्याख्या ।

10. ".....न खलु समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति" वही, कलश 24.4, समय-पाहुड गा. 413, 414 की आत्मख्याति ।
11. वीतरागं जिनं नत्वा ज्ञानानन्देकेसम्यदम् ।
वक्ष्ये समयसारस्य वृत्तिं तात्पर्यसंज्ञिकाम् ॥
—जयसेन, तात्पर्यवृत्ति, गा. 1, मंगला. 1 ।
12. "प्राभृतं सारं सारः शुद्धावस्था, समयस्यात्मनः प्राभृतं समयप्राभृतं ।"
—वही, ता. वृ. गा. 1 ।
13. समयसार 410, 411 ।
14. वही, 1 ।
15. वही, 5 ।
16. जयसेन, ता. वृ. 5 ।
17. श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपयतितमिः ।
मत्वा च सततं-ध्येय एते दर्शनहेतवः ॥
"आत्मा वऽरे श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासतव्यः"
—उपनिषद्वाक्य
18. दृष्टमनुमानमाप्रवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् ।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ॥
—ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका, 4
19. अनन्तवीर्यं, प्रमेयरत्नमाला, 1.1 ।
20. मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् तत्प्रमाणं, आद्ये परोक्षम्, प्रत्यक्षमन्यत्, श्रुतम् मतिपूर्वं ।" —त. सू. 1-9-12, 20
21. दृष्टाऽऽगमाभ्यामविरुद्धमर्थप्ररूपरां युक्तयनुशासननंत ।
युक्त्यानुशासन, 48 ।
22. एयत्तणिच्छयगत्रो समत्रो सव्वत्थ सुंदरो लोए ।
बंधकहा एयत्ते तेण विसंवादिशी होई ॥ 3 ॥ समयसार
23. ए वि होदि अपमत्तो ए पमत्तो जाणत्रो दु जो भावो ।
एवं भरांति शुद्धं णात्रो जो सो उ सो चैव ॥ 6 ॥ समयसार
ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्त-दंसरां णाणं ।
ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसरां जाणगो सुद्धो ॥ 7 ॥ समयसार
24. जह ण वि सक्कमराज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेउं ।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं ॥ 8 ॥

25. ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।
भूदत्थ मस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो ॥ 11 ॥ स. सा.
26. “प्रमाणनयात्मको न्यायः ।” —धर्मभूषण, न्यायदीपिकम्, पृ. 5
27. ववहारणओ भासदि जावो देहो य हवदि खलु एक्को ।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्ठो ॥ 27 ॥ स. सा.
28. जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं ।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवदि कम्मं ॥ 141 ॥ स. सा.
29. कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण रायपक्खं ।
णयपक्खातिक्कंतो भण्णदि जो सो समयसारो ॥ 142 ॥ स. सा.
30. वही, 181, 182, 183, 184, 186 ।
31. वही, 288, 289, 290, 291, 292 ।
32. वही, 340 “एवं संखुवदेसं जे दु परूविति एरिसं समणा ।”
33. वही, 347 ।
34. वही, 348 ।



स्वद्रव्य

दुष्टदुष्कर्मरहियं अणोवमं णाणविग्गहं णिच्चं ।
सुद्धं जिणोहिं कहियं अप्पाणं हवइ सद्व्वं ॥ 18 ॥

—(वह) आत्मा (जो) दुष्ट आठ कर्मों से रहित (है), अनुपम, नित्य (और) शुद्ध (है) (तथा जिसका) ज्ञान ही शरीर है (वह) स्वद्रव्य है (ऐसा) जिन द्वारा कथित (है)।

• • •

जे भायंति सद्व्वं परदव्वपरंमुहा हु सुचरिता ।
ते जिणव्वाराण मग्गे अणुलगा लहन्ति णिव्वारणं ॥ 19 ॥

—परद्रव्य से विमुख जो (व्यक्ति) सम्यक् प्रकार से आचरण करके स्वद्रव्य का ध्यान करते हैं, उन्होंने जितेन्द्रिय (जिनेन्द्र) के पथ का अनुसरण किया है (अतः वे) निश्चय ही परमशांति प्राप्त करते हैं ।

मोक्षपाहुड

समयसार की रचना में आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि

—पं० बंशीधर व्याकरणाचार्य



1—समयसार का आलोडन करने से मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि उसकी रचना आचार्य कुन्दकुन्द ने इस दृष्टि से की है कि सम्पूर्ण मानवसमष्टि उसे पढ़कर उसके 'अभिप्राय' को समझे और उस अभिप्राय के अनुसार अपनी जीवन-प्रवृत्तियों को नैतिकरूप देने का दृढ़ संकल्प करे जिससे वह जीवन के अंत तक सुखपूर्वक जिन्दा रह सके।

2—इस प्रकार अपनी जीवन-प्रवृत्तियों को नैतिकरूप देनेवाली मानवसमष्टि में से जो मानव जितने परिमाण में अपनी मानसिक, वाचनिक और कायिक स्वावलम्बनता का अपने में विकास करले उसके अनुसार वही आध्यात्मिक (आत्मस्वातन्त्र्य के) मार्ग का पथिक बन सकता है।

जीवों के प्रकार

जैनशासन में जीवों के संसारी और मुक्त ये दो प्रकार बतलाये गये हैं। 'संसारिणो मुक्ताश्च' (त. सू. 2.10)।

इस सूत्र से यह भी ज्ञात होता है कि संसार की समाप्ति का नाम मुक्ति है। जो जीव संसार से मुक्त हो जाते हैं वे ही सिद्ध कहलाते हैं। जैन शासन के अनुसार कोई भी जीव अनादिसिद्ध नहीं है। जैसा कि अजैन दार्शनिकों ने माना है।

संसारी जीवों के भेद

जैनशासन के अनुसार संसारी जीव भव्य और अभव्य दो प्रकार के हैं। उनमें से भव्य जीव वे हैं जिनमें संसार से मुक्त होने की स्वभाव-सिद्ध योग्यता विद्यमान हो और

अभव्य जीव वे हैं जिनमें उस स्वभाव-सिद्ध योग्यता का सर्वथा अभाव हो ।

भव्य और अभव्य जीवों में विद्यमान समानता

भव्य और अभव्य दोनों ही प्रकार के जीव पौद्गलिक कर्मों से बद्ध होने के कारण उन कर्मों के प्रभाव से अनादिकाल से यथायोग्य नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव इन चार गतियों में परिभ्रमण करते आये हैं और अपनी स्वावलम्बन शक्ति को नष्टकर यथासम्भव मानसिक, वाचनिक और कायिक परावलम्बनता की स्थिति में रहते आये हैं तथा मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय के प्रभाव में मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में रहते हुए सतत यथायोग्य मन, वचन, और काय के अवलम्बन पर मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान पूर्वक अनैतिक (मिथ्या) आचरण करते आये हैं । ऐसे जीवों को समयसार गाथा 19 से लेकर गाथा 23 तक अपने से भिन्न पदार्थ में अहंबुद्धि और ममबुद्धि होने के कारण अप्रतिबुद्ध प्रतिपादित किया गया है । वे जीव अप्रतिबुद्ध क्यों हैं ? इस बात को समयसार गाथा 24 और 25 में आगम और तर्क के आधार पर सिद्ध किया गया है ।

समयसार में मनुष्यगति की अपेक्षा विवेचन

यद्यपि नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव इन सभी गतियों के जीव उक्त प्रकार से अप्रतिबुद्ध हो रहे हैं और सभी गतियों के बहुत से जीव इस अप्रतिबुद्धता को समाप्त कर प्रतिबुद्ध भी हो सकते हैं, परन्तु जीवों को मुक्ति की प्राप्ति मनुष्य गति से ही हो सकती है इसलिए समयसार में जो विवेचन किया गया है उसे मानवसमष्टि की अपेक्षा ही समझना चाहिए ।

भव्य और अभव्य जीवों में विद्यमान अन्तर

जैनशासन के अनुसार भव्य और अभव्य दोनों ही प्रकार के मिथ्यादृष्टि जीव मुक्ति के मार्ग में प्रवेश कर सकते हैं क्योंकि न तो भव्य जीव अपनी भव्यता की पहिचान कर सकते हैं और न अभव्य जीव अपनी अभव्यता की । इसलिए भव्य जीवों के समान अभव्य जीव भी अपने को भव्य समझकर मुक्ति के मार्ग में प्रवृत्त होते हैं । समयसार गाथा 275 में बतलाया गया है कि अभव्य जीव भी भव्य जीव के समान मोक्ष के मार्गभूत धर्म (व्यवहारधर्म) में आस्था रखता है, उसको समझता है, उसमें रुचि रखता है और उसमें प्रवृत्त भी होता है । इतनी बात अवश्य है कि उसका वह धर्माचरण मुक्ति का कारण न होकर यथायोग्य सांसारिक सुख की वृद्धि का ही कारण होता है । समयसार में वह गाथा इस रूप में निबद्ध है—

सहृदि य पत्तियदि य रोचेदि य तह पुणो वि फासेदि य ।

धम्मं भोगणमित्तं एण हु सो कम्मक्खयणमित्तं ॥ 275 ॥

इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि भव्य और अभव्य दोनों ही प्रकार के जीव मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय के प्रभाव से मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में रहते हुए

यथायोग्य चतुर्थ गुणस्थानवर्ती, पंचम गुणस्थानवर्ती और षष्ठ गुणस्थानवर्ती जीवों के समान घर्माचरण कर सकते हैं और इस प्रकार घर्माचरण करते हुए अभव्य जीव भी भव्य जीवों के समान अपने में क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियों का विकास कर लेते हैं, जिनके प्रभाव से वे नवम् प्रवेयिक तक भी उत्पन्न हो जाते हैं परन्तु वे भव्य जीवों के समान आत्मविशुद्धि कर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र प्राप्त नहीं कर सकते क्योंकि जैनशासन में बतलाया गया है कि उस जीव की आत्मविशुद्धि सम्यग्दर्शनरूप होती है जिसने दर्शनमोहनीयकर्म की तीन और चार अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोमरूप इन सात प्रकृतियों का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम किया हो। इसी प्रकार देशन्नतरूप आत्मविशुद्धि उसी जीव की होती है जिसने उक्त दर्शनमोहनीयकर्म की तीन और अनन्तानुबन्धी कषाय की चार इन सात प्रकृतियों के उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम के साथ अप्रत्याख्यानावरण कषाय की चार प्रकृतियों का भी क्षयोपशम किया हो तथा आत्मा की विशुद्धि सर्वन्नतरूप उसी जीव की होती है जिसने उक्त दर्शनमोहनीयकर्म की तीन और अनन्तानुबन्धी कषाय की चार इन सात प्रकृतियों के उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम और अप्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम के साथ प्रत्याख्यानावरण कषाय का भी क्षयोपशम किया हो।

इसका भाव यह है कि मोहनीयकर्म की उक्त प्रकृतियों का यथासम्भव उपशम, क्षय या क्षयोपशम मिथ्यात्वगुणस्थानवर्ती उसी जीव में होता है जो भव्य हो तथा उस जीव में उन प्रकृतियों का यह उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम तभी होता है जब वह सातिशय मिथ्यादृष्टि हो जाता है। वह सातिशय मिथ्यादृष्टि तभी कहा जाता है जब वह करणलब्धि प्राप्त करता है अर्थात् क्रमशः अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण परिणामों को प्राप्त होकर मोहनीयकर्म की उक्त प्रकृतियों का यथायोग्य उपशम, क्षय और क्षयोपशम करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। उसे इस करणलब्धि की प्राप्ति तभी होती है जब वह समयसार में प्रतिपादित भेद-विज्ञान को प्राप्त कर लेता है। वह उक्त भेदविज्ञान को तब प्राप्त होता है जब वह क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य इन चार लब्धियों को प्राप्त कर लेता है। वह इन चार लब्धियों को तब प्राप्त करता है जब वह नैतिक आचरण के रूप में अथवा नैतिक आचरण के साथ देशन्नतरूप में अथवा नैतिक आचरण के साथ सर्वन्नतरूप में मन, वचन और काय के समन्वयपूर्वक आगम में वर्णित उक्त प्रकार के व्यवहारधर्म को यथायोग्यरूप में अंगीकार करता है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि अभव्य जीव भी उक्त प्रकार के व्यवहारधर्म को अंगीकार करके क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य इन लब्धियों को प्राप्त कर लेता है परन्तु वह अपनी अभव्यता के कारण उक्त भेदविज्ञान को प्राप्त नहीं होता। समयसार गाथा 275 का यही अभिप्राय है।

उन भव्य और अभव्य जीवों को उक्त चार लब्धियों की प्राप्ति नहीं होती है जो उक्त प्रकार के व्यवहारधर्मों को अंगीकार तो करते हैं परन्तु मन, वचन और काय के समन्वयपूर्वक नहीं।

इस विवेचन से निर्णीत होता है कि मिथ्यादृष्टि गुणस्थानवर्ती भव्य जीवों को ही उपर्युक्त क्रम से भेदविज्ञान की प्राप्ति होती है, अभव्य जीवों को नहीं ।

समयसार की बेजोड़ व्याख्या करनेवाले आचार्य अमृतचन्द्र के कलशपद्य 128, 129, 130, 131 और 132 से यही निर्णीत होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार की रचना में मुमुक्षु जीव के लिए मुक्ति की प्राप्ति में भेदविज्ञान को प्रमुख स्थान दिया है । यहाँ उन पद्यों को उद्धृत किया जाता है—

निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या
भवति नियतमेषां शुद्धतत्त्वोपलम्भः ।
अचलितमखिलान्यद्रव्यदूरे स्थितानां
भवति सति च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः ॥ 128 ॥

—जो जीव निजमहिमा में रत हैं अर्थात् उसकी महिमा के जानकार हैं (भेदविज्ञानी हो गये हैं) उन जीवों को उस भेदविज्ञान के आधार पर नियम से अपने शुद्ध अर्थात् स्वतन्त्र स्वरूप का उपलम्भ (ज्ञान) होता है । ऐसे जीवों को अन्य द्रव्यों से सर्वथा दूर हो जाने पर अर्थात् पर पदार्थों में अहंबुद्धि और ममबुद्धि की समाप्ति हो जाने पर कर्मों का स्थायी क्षय होता है ।

सम्पद्यते संवर एष साक्षा-
च्छुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलम्भात् ।
स भेदविज्ञानात् एव तस्मात्
तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यम् ॥ 129 ॥

—शुद्ध आत्मतत्त्व का ज्ञान हो जाने पर साक्षात् संवर का संपादन होता है । वह शुद्ध आत्मतत्त्व का ज्ञान भेदविज्ञान के आधार पर होता है । इसलिए जीवों को भेदविज्ञान की प्राप्ति का अभ्यास करना चाहिए ।

भावयेद् भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया ।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते ॥ 130 ॥

—उस भेदविज्ञान का अविच्छिन्न धारा से तब तक अभ्यास करना चाहिए जब तक वह जीव पर से च्युत होकर अर्थात् पर में अहंकार और ममकार समाप्त करके ज्ञान में प्रतिष्ठित होता है अर्थात् भेदविज्ञानी होता है ।

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन ।
अस्यैवान्मावतो बद्धाबद्धा ये किल केचन ॥ 131 ॥

—जो कोई जीव सिद्ध हुए हैं वे भेदविज्ञान से ही हुए हैं और बद्ध जीव भेदविज्ञान के अभाव के कारण ही बद्ध हैं ।

**भेदज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतत्वोपलम्भा—
द्रागग्रामप्रलयकरणात्कर्मणां संवरेण ।
बिभ्रत्तोषं परमममलालोकमभ्लानमेकं
ज्ञानं ज्ञाने नियतमुदितं शाश्वतोद्योतमेतत् ॥ 132 ॥**

—जीव को भेदविज्ञान की प्राप्ति होने पर शुद्धतत्व का उपलम्भ अर्थात् ज्ञान होता है और इस प्रकार रागसमूह का विनाश हो जाने से कर्मों का संवर होने पर तोष को प्राप्त उत्कृष्ट अमलप्रकाशवाला निर्दोष अद्वितीय ज्ञान नियम से उदित होकर ज्ञानरूप में शाश्वत प्रकाशमान होता है ।

समयसार की रचना में जो क्रम पाया जाता है उससे भी यही भाव प्रकट होता है जो निम्नप्रकार है—

प्रथम गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द ने जो सिद्धों को नमस्कार किया है उससे मुमुक्षु जीव के लक्ष्य का निर्धारण होता है । दूसरी गाथा में यह बतलाया गया है कि जो जीव अभेददृष्टि से अपने अखण्ड स्वभावभूत ज्ञान में और भेददृष्टि से दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य में स्थिर रहें उन्हें स्वसमय कहा जाता है तथा जो जीव पुद्गलकर्मप्रदेशों में स्थित हैं अर्थात् पुद्गलकर्मों से बद्ध होने के कारण परपदार्थों में अहंबुद्धि और ममबुद्धि करते हैं वे परसमय कहलाते हैं । तीसरी गाथा में यह शंका उठाई गयी है कि लोक में जितने पदार्थ हैं वे सब अपने अखण्ड एक स्वभाव में रहकर ही सर्वदा सुन्दरता को प्राप्त हो रहे हैं, इसलिए जीव के विषय में बंध की कथा विसंवादपूर्णा हो जाती है । चतुर्थ गाथा में इस शंका का इस प्रकार समाधान किया गया है कि अनादिकाल से प्रत्येक जीव को काम, भोग और बन्ध की कथा ही सुनने में आई है, देखने में आई है और अनुभूत होती आई है, अतः उसके अखण्ड एक स्वरूप का ज्ञान होना उसे सुलभ नहीं है । इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्द ने पाँचवीं गाथा में आत्मा के उस अखण्ड एक स्वरूप को समयसार में स्पष्ट करने की प्रतिज्ञा की है और छठी गाथा में आत्मा के उस अखण्ड एक स्वरूप को स्पष्ट कर दिया गया है । इसके पश्चात् गाथा 13 में आचार्यश्री ने आध्यात्मिक मार्ग में उपयोगी जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष इनको (जैसे है उसी रूप में) जिस जीव ने जाना है उसे सम्यग्दृष्टि बतलाया है ।

इससे निर्णीत होता है कि उन पदार्थों को उनके पृथक्-पृथक् स्वरूप के आधार पर जानकर परपदार्थों में अहंबुद्धि और ममबुद्धि का त्याग करना ही भेदविज्ञान है । इसके आगे आचार्य कुन्दकुन्द ने जीवाधिकार में जीव के स्वरूप का, अजीवाधिकार में अजीव के स्वरूप का, कर्तृकर्माधिकार में जीव और अजीव के मध्य वास्तविक कर्ता और कर्म की व्यवस्था के निषेध का, पुण्यपापाधिकार में पुण्य और पाप का, आस्रवाधिकार में आस्रव का, संवराधिकार में संवर का, निर्जराधिकार में निर्जरा का, बन्धाधिकार में बन्ध

का और मोक्षाधिकार में मोक्ष का जो पृथक्-पृथक् स्वरूपविवेचन किया है वह भेदविज्ञान के पोषण के लिए किया गया है और अन्त में सर्वविशुद्ध-ज्ञानाधिकार में आत्मा के स्वतंत्र स्वरूप का विशेष विवेचन किया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार की रचना में मुमुक्षु जीवों को प्रथमतः भेदविज्ञानी बनने का ही उपदेश मुख्यतः दिया है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि भव्य और अभव्य के भेद से संसारी जीवों के जो दो प्रकार आगम में निश्चित किये गये हैं वे दोनों ही एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय के भेद से छह प्रकार के हैं। इनमें से एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीवों में केवल कर्मफल-चेतना पायी जाती है अर्थात् वे सब जीव कर्मफल का मात्र सुख-दुःख रूप अनुभव कर सकते हैं। इनके अतिरिक्त जो संज्ञी पंचेन्द्रिय भव्य और अभव्य जीव हैं वे सतत अपने अभिलषित की सम्पन्नता के लिए संकल्प और बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ करते हैं। उनका वह पुरुषार्थ असमीत भोग और संग्रह का होता है। उनकी प्राप्ति के लिए वे हिंसा, असत्यभाषण और चोरी का भी पुरुषार्थ करते हैं और ऐसे पुरुषार्थ में उन्हें हमेशा हर्ष होता है, ग्लानि कभी नहीं होती, इसलिये उनका यह पुरुषार्थ अनैतिक आचरण के रूप में संकल्पी पाप माना गया है। इस संकल्पी पाप का सद्भाव उन जीवों में जब तक रहता है तब तक वे मिथ्या-दृष्टि, मिथ्याज्ञानी और मिथ्याचारिणी होते हैं। इनमें से जो जीव इन संकल्पी पापों का सर्वथा त्यागकर अशक्ति या आवश्यकता के आधार पर इनमें प्रवृत्त होते हैं उनकी वे प्रवृत्तियाँ अशक्ति और आवश्यकतावश होने के कारण आरम्भी पाप कहलाती हैं। तथा इस प्रकार आरम्भी पापों में प्रवृत्त भव्य और अभव्य जीव चरणानुयोग की अपेक्षा अविरत सम्यग्दृष्टि कहलाते हैं। जो भव्य और अभव्य जीव इस अविरति का एकदेश त्याग कर देते हैं वे देशविरत हो जाते हैं तथा जो भव्य और अभव्य जीव उसका यथायोग्य सम्पूर्णरूप से त्याग कर देते हैं वे सर्वविरत हो जाते हैं। इस प्रकार भव्य और अभव्य दोनों ही जीव अविरत, देशविरत या सर्वविरत होकर क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य इन चार लब्धियों को भी प्राप्त कर लेते हैं। इतनी बात अवश्य है कि अभव्य जीव उक्त लब्धियों को प्राप्त करके भी अपनी अभव्यता के कारण भेदविज्ञानी नहीं बन सकते हैं, भव्य जीव ही अपनी भव्यता के आधार पर भेदविज्ञानी बन सकते हैं।

तात्पर्य यह है कि जो भव्य जीव क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियों को प्राप्त कर यदि भेदविज्ञानी बनने का अभ्यास करता है तो उसे भेदविज्ञान की प्राप्ति होती है तथा अभव्य जीव क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियों को प्राप्त कर यदि भेदविज्ञानी बनने का अभ्यास करता भी है तो भी उसे उसकी अभव्यता के कारण भेदविज्ञान की प्राप्ति नहीं होती।



समयसार में निश्चय-व्यवहार-विषयक चर्चा-समाधान

—नाथूराम डोंगरीय



धर्मबंधुओं में प्रायः निश्चय-व्यवहार पर आधारित तत्त्वचर्चा हुआ करती है। जिज्ञासा एवं निष्पक्षभाव से की गई तत्त्वचर्चा वस्तुस्वरूप के समझने में सहायक ही हुआ करती है। इस तत्त्वचर्चा में हमें जैनदर्शन के मूल सिद्धांत अनेकांत का ध्यान रखना और नय-विषयक ज्ञान का होना आवश्यक एवं अनिवार्य है। इसके बिना केवल अपने-अपने अभिप्रायों की पुष्टि हेतु खींचतान करने से वह विवाद का रूप भी धारण कर लेती है जिससे सम्यग्ज्ञान के होने में निश्चितरूप से बाधा आती है। यहाँ जिनवाणी के प्राण अनेकांत की प्रतिष्ठा हेतु निश्चय-व्यवहार नयों एवं उनके द्वारा प्रतिपादित वस्तु एवं आत्म-स्वरूप पर संक्षेप में प्रकाश डाला जा रहा है जिससे धर्मबंधुओं को उक्त विषयक चर्चाओं में यदि वे निष्पक्ष होकर विचार-विनिमय करेंगे तो अवश्य ही समाधान प्राप्त हो सकेगा, ऐसी आशा है।

वस्तु का स्वरूप—जिनवाणी के अनुसार वस्तु का स्वरूप अनेकांतात्मक है अतः जैनाचार्यों ने उसे विविध दृष्टियों से समझाया है। ये दृष्टियाँ ही हमें वस्तु का स्वरूप समझने में सहायक होती हैं। इन दृष्टियों को जैनाचार्यों ने नय संज्ञा प्रदान की है। प्रामाणिक रूप में प्रत्येक वस्तु द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक है। प्रत्येक द्रव्य अपने प्रदेशों में सदा स्थिर रहता हुआ स्वयं के सहभावी गुणों का अखंड पिंड होता है। दूसरे शब्दों में गुणों का अखंड पिंड ही द्रव्य कहलाता है। द्रव्य के सदा स्थिर रहते हुए भी उसकी परिणमनात्मकता के कारण परिणमन (परिवर्तन) भी होता रहता है जिसे पर्यायों का

पलटना भी कहते हैं। यह परिवर्तन समान और असमान रूप में यथायोग्य अनुकूल या प्रतिकूल निमित्तों के मिलने पर स्वभाविकरूप में हुआ करता है। परिवर्तन के होने पर भी कोई द्रव्य दूसरे द्रव्य के रूप में परिवर्तित नहीं होता है और न उसके गुण भी अन्य द्रव्य के गुणों रूप परिवर्तित होते हैं जबकि उसकी पर्यायें उसी गुण या द्रव्य रूप में सदा ही अपनी मर्यादा में रहकर परिवर्तित होती रहती हैं।

जैसे एक जीव अनादिकाल से देव, नारकी, मनुष्यादि अनेक पर्यायों को धारण करता हुआ भी जीव ही बना रहता है और उसके ज्ञानादि गुणों तथा भावों में भी प्रतिक्षण परिवर्तन होते हुए भी उनका अजीव के गुणों रूप परिणमन नहीं होता। प्रत्येक वस्तु में अगुरुलघु गुण होने से उसके गुणों में षड्गुणी हानि-वृद्धि होने पर भी वह समूल नष्ट नहीं होती। चूंकि गुणों का वस्तु के साथ तादात्म्य संबंध होता है, अतः गुणों का परिणमन भी वस्तु का ही परिणमन कहलाता है। उपर्युक्त कथन, 'गुणपर्ययवद्द्रव्यं', 'सद्द्रव्यलक्षणं' एवं 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' तत्त्वार्थसूत्र के इन प्रामाणिक सूत्रों पर आधारित है।

नय और नयाभास—इस प्रकार वस्तु का यह द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक स्वरूप नाना गुण-पर्यायात्मक होने से अनेकांतात्मक है। वस्तु-स्वरूप को जानने के प्रमाण और नय ये दो प्रमुख साधन हैं। प्रमाण वस्तु को सर्वांग जानता है और नय अंश रूप में। प्रामाणिक ज्ञान में सभी नयों की परस्पर सापेक्षता भी बनी रहती है तभी वे अनेकांतात्मक सत्य के द्योतक कहे गये हैं। नयों के द्वारा वस्तु के एक-एक अंश का ज्ञान होने से वे प्रमाण के अंश भी कहे जाते हैं। प्रत्येक सुनय वस्तु में विद्यमान किसी विशेषता का ज्ञान कराता हुआ अन्य विशेषताओं का निषेध नहीं करता, केवल उनकी विवक्षा न होने से उन्हें गौण ही करता है तथा अंतरंग में उन्हें स्वीकार भी किये रहता है, तभी वह अन्य-नय-सापेक्ष रह कर जैनदर्शन में सम्यग्ज्ञान का अंश कहा गया है।

यदि कोई नय वस्तु की एक विशेषता का वर्णन करता हुआ उसमें विद्यमान अन्य विशेषताओं को गौण न कर उनका निषेध करने लगता है, जिसका उसे कोई अधिकार नहीं है तब वह सुनय न रहकर दुर्नय या नयाभास बन जाता है और फिर उसका कथन एकांतवाद तथा उसकी श्रद्धा मिथ्यात्व कहलाती है। जैसे हाथी की पूंछ को ही हाथी मानने या समझने वाला भ्रमित और एकांती है वैसे ही वस्तु के एक अंश को ही पूर्ण वस्तु मानने या समझने वाला भी एकांती ही है।

नयों के भेद—जैनदर्शन में वस्तु को द्रव्यप्रधान दृष्टि से देखनेवाला द्रव्याधिक और पर्यायप्रधान दृष्टि से देखने व कथन करने वाला पर्यायाधिक नय कहा व माना गया है किंतु अर्ध्यात्मग्रंथों में द्रव्याधिक का निश्चय और पर्यायाधिक नय का व्यवहार नामों से प्रयोग किया गया है। नयों के ये ही मुख्य दो भेद हैं।

समयसार में निश्चय और व्यवहार—आचार्यश्री कुन्दकुन्द ने समयसार ग्रंथ में

उभय नयों का प्रयोग करते हुए भी केवल व्यवहार-विमूढ़ जीवों को आत्मा का स्वरूप शुद्ध निश्चय नय की प्रधानता से दर्शाया है। ग्रंथ में निश्चय को भूतार्थ और व्यवहार को अभूतार्थ कहा गया है। इतना मात्र पढ़-सुनकर अनेक बंधु निश्चय को ही सत्य और व्यवहार को सर्वथा असत्य मानने की भ्रमपूर्ण कल्पना करने लगते हैं। भूतार्थ शब्द दो शब्दों के योग से बना है—भूत + अर्थ। 'भूत' शब्द के अनेक अर्थ हैं—द्रव्य, सत्य, जीव, हित, प्रेतयोनि, अतीतकाल, मूलतत्त्व आदि। इसी प्रकार 'अर्थ' शब्द भी अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है—प्रयोजन, अभिप्राय, धन, हेतु, विषय आदि। यहाँ इन शब्दों का किस रूप में प्रयोग किया गया है, यदि इस पर गंभीरता से विचार करें तो 'भूत' शब्द द्रव्य-वाचक और 'अर्थ' शब्द विषय या प्रयोजनवाचक सुसंगत प्रतीत होता है। तदनुसार द्रव्य सामान्य जिसका विषय है वह भूतार्थ नय है और जिसका विषय द्रव्य न होकर पर्यायादि विशेष है वह अभूतार्थ नय है। यतः शुद्ध निश्चय नय पर्यायादि भेदों को गौण कर द्रव्यदृष्टिप्रधान है अतः वह भूतार्थ है और व्यवहार नय द्रव्य को गौण कर पर्यायादृष्टि-प्रधान है अतः वह अभूतार्थ है।

'भूत' शब्द का अर्थ सत्य भी है जिससे निश्चय को सत्यार्थ एवं व्यवहार को निश्चय की दृष्टि में असत्यार्थ भी कहा जाता है—जैसा कि समयसार की 11वीं गाथा की टीका में श्रीमज्जयसेनाचार्य ने लिखा है, किंतु इन्हीं आचार्यश्री ने इसी गाथा का द्वितीय अर्थ करते हुए अपनी व्याख्या में व्यवहार नय को भी भूतार्थ और अभूतार्थ कह कर उसे दो भागों में विभक्त किया है। इसी प्रकार निश्चय नय को भी भूतार्थ-अभूतार्थ (शुद्ध-निश्चय और अशुद्ध-निश्चय) के भेद से दो प्रकार दर्शाया है।

श्रीमदमृतचन्द्रस्वामी ने भी इसी ग्रंथ की गाथा 14 की टीका में व्यवहार-नय-दृष्टिप्रधान कथन को कथंचित् भूतार्थ कहा है और निश्चय-नय-दृष्टिप्रधान कथन को भी कथंचित् ही भूतार्थ कहा है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार आत्मा का अबद्ध, असृष्ट, अनन्य, नियत व असंयुक्तपना शुद्ध निश्चय नय की दृष्टि से विचारने पर भूतार्थ है उसी प्रकार व्यवहार नय की दृष्टि से विचारने पर बद्ध, सृष्ट, अन्य, अनियत व संयुक्तपना भी भूतार्थ (सत्यार्थ) है क्योंकि संसारदशा में जीव कर्मबंधन में फँसा हुआ एवं विभिन्न पर्यायों को धारण करता हुआ प्रत्यक्ष ही दिखाई दे रहा है। अपनी-अपनी दृष्टि से दोनों नयों के कथन सत्य हैं क्योंकि दोनों नयों द्वारा किये गये कथन कथंचित् रूप में वस्तु का द्रव्यात्मक और पर्यायात्मक स्वरूप का ही प्रतिपादन करते हैं जो सम्यग्ज्ञान कराने में सहायक हैं। यद्यपि दोनों नयों के कथन में परस्पर विरोध सा प्रतीत होता है किंतु वस्तु में अनेकांतात्मकता होने से उसमें कोई विरोध की बात नहीं है। लोक में मिट्टी के षड़े को घी रखे रहने के कारण घी का षड़ा कहना उपचरित कथन है जिसे व्यवहार नय का कथन भी माना जाता है किंतु सदभूत व्यवहार और असदभूत व्यवहार से उसकी समानता नहीं हो सकती। मिट्टी और घी दो पृथक्-पृथक् द्रव्य हैं किन्तु आत्मा से संसार और मुक्ति रूप पर्यायें पृथक् नहीं हैं। यहाँ यह सविशेष रूप में उल्लेखनीय है कि आत्मा का उसकी पर्यायों से तादात्म्य सम्बन्ध है। परिवर्तनशील होकर भी पर्यायें द्रव्य से भिन्न

नहीं होती। द्रव्य और पर्याय में यदि कथंचित् कथनात्मक भेद सा प्रतीत होता भी है तो वह केवल द्रव्य का पर्यायात्मक स्वरूप जताने के लिए ही समझा जाना चाहिये। 'द्रव्य की पर्याय' ऐसा भेदरूप कथन करने पर पाठकों को यह भय हो जाता है कि द्रव्य से पर्याय कोई भिन्न वस्तु है और इसलिए द्रव्य तो सदा शुद्ध ही रहता है, अशुद्धि केवल पर्यायों में ही हुआ करती है, किंतु यह नहीं भूलना चाहिए कि द्रव्य जिस समय जिस पर्यायरूप परिणत होता है उस समय वह तन्मय ही होता है क्योंकि उस पर्याय से उस द्रव्य (आत्मा) का तादात्म्य सम्बन्ध है। इसका प्रवचनसार में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने—“परिणमदि जेण दव्वं तक्काले तण्मयत्ति णिट्ठं” आदि गाथा द्वारा स्पष्टीकरण किया ही है। इसके सिवाय प्रवचनसार ही में इस कथन की पुष्टि उन्होंने निम्न गाथा में भी की है—

उत्पादद्विदिभंगा विज्जंते पज्जएसु पज्जाया ।

दव्वं हि संति णियदं तम्हा दव्वं हवदि सव्वं ॥ 101 ॥

अर्थात् पर्यायों में उत्पाद, स्थिति, और विनाश तीनों ही विद्यमान हैं और पर्यायों द्रव्य में रहती हैं, उससे पृथक् उनका अस्तित्व नहीं क्योंकि सब द्रव्य की ही हैं, इस कारण निश्चय से वे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमयी पर्यायें द्रव्य ही हैं।

इस कथन की पुष्टि स्वामी समंतभद्र द्वारा (आप्तमीमांसा में) निम्न शब्दों में की गई है—

द्रव्यपर्याययोरैक्यं तयोरव्यतिरेकतः ।

परिणामविशेषाच्च शक्तिमच्छक्तिभावतः ॥

अर्थात् द्रव्य और पर्याय में एकता इसीलिए है कि वे दोनों भिन्न-भिन्न न होकर एक हैं। पर्याय द्रव्य का परिणाम (परिणति) या परिणामनविशेष ही तो है—द्रव्य शक्तिमान् है और पर्याय द्रव्य की शक्ति की अभिव्यक्ति है।

आचार्यों का उक्त कथन द्रव्य और पर्याय के सम्बन्ध में सम्पूर्ण भ्रमों और कल्पनाओं के निवारण करने के लिए पर्याप्त है। जैसे समुद्र के जल में उठनेवाली तरंगों जल से भिन्न न होकर जल ही है वैसे ही द्रव्य में तरंगों के समान उत्पन्न होनेवाली पर्यायें भी द्रव्य ही हैं। अतः अशुद्धपर्याययुक्त आत्मद्रव्य को सर्वथा अशुद्ध न मानना एक प्रकार का एकांत मिथ्यात्व ही कहा जायेगा। दूसरे यह कि द्रव्य से पर्याय को सर्वथा भिन्न मानने पर पर्याय को एक स्वतंत्र वस्तु मानना पड़ेगा तब ही आत्म-द्रव्य तथाकथित सर्वथा शुद्ध बना रह सकेगा और अशुद्धि फिर पर्यायों में होती रहेगी, जो कि प्रत्यक्ष से ही विरुद्ध है और आगम से भी विपरीत है जबकि आत्मा से उसकी कोई भी पर्याय न तो भिन्न है और न हो सकती है, न पर्याय से आत्मा ही भिन्न हो सकता है। आत्मद्रव्य किसी न किसी पर्याय में ही उपलब्ध होगा। इसीलिए 'गुणपर्यायवद्द्रव्य' सूत्रकार ने घोषित किया है।

यदि कहा जाय कि पर्यायें स्थायी न रहकर सदा उत्पन्न और नष्ट होती रहती हैं इसलिए हम उन्हें महत्त्व नहीं देते और न उन्हें मानते हैं तो कहना होगा कि फिर आत्मा की संसार और मुक्त दशा भी अमान्य ठहरेगी और संसार की अशुद्ध दशा से मुक्त होने के लिए मोक्षमार्ग के उपदेश की कोई आवश्यकता न रहेगी ।

आचार्यश्री कुन्दकुन्द का समयसार में यद्यपि शुद्ध-निश्चय-नय की प्रधानता से आत्म-स्वरूप को दर्शाने का उद्देश्य रहा है तथापि उन्होंने व्यवहार नय की सर्वथा उपेक्षा न कर उभय नयों की समन्वित दृष्टि को अपनाया है । समयसार के जीवाधिकार की 13वीं गाथा में सम्यक्त्व का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च ।

आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥ 13 ॥

अर्थात् जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये नव तत्त्व हैं जो कि जीव और अजीव की विशेषताएँ या पर्यायें होने से अभूतार्थ (व्यवहार) नय के विषय हैं और भेदरूप अनुभव में आ रही हैं । यदि इनमें भेदों को गौण कर अभेददृष्टि की मुख्यता से एक अखंड चैतन्यस्वरूपी आत्मा की व्यापकता को देख लिया जाय तो वही सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन (आत्मदर्शन) है । दूसरे शब्दों में इन नव तत्त्वों में पर्यायदृष्टि से जो कथंचित् पृथक्ता है उसे गौण कर उनमें आत्मत्व की दृष्टि से एकरूपता का अनुभव कर लेना सम्यक्त्व है । आचार्यश्री ने आस्रवादि भेदरूप पर्यायों में एक (शुद्ध) आत्मतत्त्व के दर्शन कराये हैं । अज्ञानियों को वस्तु में विद्यमान गुणों और पर्यायों को दरशाये बिना किसी भी द्रव्य का ज्ञान कराना शक्य नहीं है । आत्मा एक अखंड वस्तु है, वह एक होकर भी अनेक गुणों और पर्यायों का पुंज है तथा अखंड आत्मा में गुण-पर्यायों का भेद करना व्यवहार नय का विषय है । वस्तुतः आचार्यश्री ने आत्मा की बंध आदि पर्यायों में शुद्ध नय से अखंड-अभेदस्वरूप आत्मा की व्यापकता का अनुभव कर लेने को सम्यक्त्व कहा है ।

आचार्यश्री ने निश्चय-व्यवहार का इस प्रकार सुन्दर समन्वय कर जिनवाणी के अनेकांतात्मक सत्य को भी उजागर कर दिया है जबकि आत्मा को पर्यायविहीन मानकर उस के दर्शन कर लेना असंभव है ।

उन्होंने व्यवहार नय की उपयोगिता दर्शाते हुए समयसार की आठवीं गाथा में यह भी दर्शाया है कि व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश नहीं दिया जा सकता क्योंकि संसारी जीव व्यवहार को ही जानते हैं और उसी के द्वारा परमार्थ को समझ सकते हैं अतः उन्होंने नव तत्त्वों में जो व्यवहार के विषय हैं एक आत्मतत्त्व के दर्शन कराये हैं । जैसे बहुरूपिया स्त्री आदि अनेक भेषों को धारण करता हुआ भी व्यक्ति की दृष्टि से एक है वैसे ही आत्मा भी आस्रव आदि अनेक पर्यायों को धारण करता हुआ एक है । जैसे बहुरूपिया को स्त्री के भेष में देखकर उसे स्त्री ही मानलेनेवाला भ्रम में है वैसे ही

आत्मा की राग-द्वेषादि-युक्त नर-नारकादि संयोगी पर्यायमात्र को ही वास्तव में आत्मा समझलेनेवाला भी भ्रम में है। स्त्री-भेष धारण कर बहुरूपिया भी यदि स्वयं को स्त्री ही मान ले तो वह भी भ्रमित कहा जायगा क्योंकि उसने अपने पुरुषत्व को भुला दिया। वैसे ही अपने चैतन्यज्ञानदर्शनमयीस्वरूप को भुलाकर संयोगी पर्यायों (नरनारकादि) में आत्मबुद्धि करनेवाला व्यक्ति भी भ्रमित (मिथ्यादृष्टि, बहिरात्मा) कहा जायगा। सम्यग्दृष्टि वही है जो संसार में अपने ज्ञानानंदमयीस्वरूप का नाना नरनारकादि पर्यायों एवं राग-द्वेषादि विकारी भावों को हेय मान उन्हें आत्मा के शुद्ध स्वरूप से भिन्न अनुभव कर लेता है। यही निश्चय-व्यवहार का सम्यक् ज्ञान है जो आत्मा की द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक स्थिति का यथार्थ बोध कराता है।

इसके सिवाय समयसार के टीकाकार श्रीमज्जयसेनाचार्य ने निश्चय और व्यवहार नयों को जो क्रमशः द्रव्य और पर्याय को विषय करते हैं, दो नेत्रों की उपमा दी है। जैसे एक नेत्र को बंद कर दूसरे नेत्र से देखने पर नाक की दूसरी ओर स्थित पदार्थ जो कि विद्यमान हैं दिखाई नहीं देते उसी प्रकार निश्चयदृष्टि में व्यवहार की विषयभूत पर्यायों भी दृष्टि में नहीं आतीं या गौण हो जाती हैं किंतु वे हैं, नहीं हैं या काल्पनिक हैं, ऐसा नहीं है। इसीलिए उभय नयों से वस्तु का द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक-स्वरूप जानना प्रामाणिक दृष्टि से सम्यग्ज्ञान कहा गया है। अतः वस्तु स्वयं निश्चय-व्यवहारात्मक होने से अनेकांतात्मक है। इसीलिए निश्चय और व्यवहार नय भी परस्पर सापेक्ष रहकर ही वस्तु का अनेकांतात्मक ज्ञान कराने के कारण सुनय कहे गये हैं और दोनों निरपेक्ष नय मिथ्या।

स्वामी समन्तभद्र ने इसका स्पष्टीकरण निम्न शब्दों में किया है—

“निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तुतोऽर्थकृत्” । 108 ।

—आप्तमीमांसा

निष्कर्ष के रूप में निश्चय और व्यवहार के द्वारा आचार्यों ने समयसार एवं अन्य ग्रंथों में आत्मा के आधार पर जो उनकी दृष्टियों का स्पष्टीकरण किया है उसे यहाँ संक्षेप में दर्शाना उचित होगा—

- 1—शुद्ध निश्चय नय की दृष्टि में आत्मा कर्मों से अबद्ध, अस्पर्श, अनन्य (एक, अखंड), नियत और अविशेष प्रतीत होता है और व्यवहार नय की दृष्टि में वही संसारी आत्मा कर्मों से बद्ध, शरीरादि से स्पर्श करता हुआ देव, मनुष्यादि पर्यायों को धारण कर अन्य-अन्य तथा क्रोध-मानादि विविध भावों को करता हुआ अनियत (क्रोधी, मानी आदि) ज्ञान-दर्शनादि अनेक गुणवाला सविशेष और मोहादि विकारों से संयुक्त प्रतीत होता है। दोनों नयों की दृष्टियाँ अपनी-अपनी दृष्टि से भूतार्थ हैं (सत्य हैं)।

—समयसार गाथा 14, (अमृतचन्द्राचार्य-टीका)

2—निश्चय नय से आत्मा असंख्यात प्रदेशी होने से (लोक व्यापक होने की शक्ति रखने के कारण) तीन लोक के बराबर है (जैसा कि केवल-समुद्घात के समय होता है) किंतु व्यवहार नय से प्रत्येक आत्मा अपने-अपने शरीर में व्याप्त होने से अपनी देह के बराबर ही है।

—पंचास्तिकाय 27, द्रव्यसंग्रह 10

3—उपादान कारण की दृष्टि से आत्मा राग-द्वेषादि विकारी भावों का कर्ता और भोक्ता है क्योंकि रागद्वेषादि भाव आत्मा से सर्वथा भिन्न नहीं हैं जिनके द्वारा वह कर्मों से बंधता भी है किंतु निमित्त-प्रधान कथन करने पर रागादि भाव पुद्गल कर्मोदय के निमित्त से होते हैं अतः इस दृष्टि से पुद्गल कर्मों को रागादि का कर्ता कहा जाता है।

—समयसार 115, आचार्य जयसेन की टीका

4—प्राणों की दृष्टि से कथन करने पर निश्चय नय से आत्मा का चैतन्य भाव ही प्राण है किंतु व्यवहार नय से इन्द्रिय, बल, आयु व श्वासोच्छ्वास इन द्रव्यप्राणों-वाला जीव कहा जाता है।

—द्रव्यसंग्रह 3, (नेमिचन्द्राचार्य)

5—निश्चय नय से जीव अमूर्तिक है और व्यवहार से पुद्गलकर्मबंधनबद्ध होने से मूर्तिक है।

—द्रव्यसंग्रह 7, समयसार 4

6—जिनेन्द्र भगवान् ने व्यवहार नय से मिथ्यात्वादि गुणस्थानों में जो मिथ्यात्व सम्यक्त्वादि भाव होते हैं उन्हें जीव कहा है इसी से यह मिथ्यादृष्टि है, यह सम्यग्दृष्टि है, यह प्रमत्त या अप्रमत्त है, यह केवली या छद्मस्थ है आदि व्यवहार होता है किंतु निश्चय नय से जीवमात्र को चैतन्यमयी, उपयोग-स्वभावी कहा है।

—समयसार, 46

7—व्यवहार नय से जीव के संसारी और मुक्त अथवा स्वसमय और परसमय आदि भेद हैं किंतु शुद्ध निश्चय नय से चैतन्यस्वभावी होने से सब जीव समान हैं।

—समयसार, 3

8—शुद्ध निश्चय नय से अन्य द्रव्य और उसके गुण-पर्यायों से भिन्न (अमिश्रित) होने तथा अपने स्वाभाविक चैतन्यमयी अमिट-सत्ता से अभिन्न होने के कारण आत्मा द्रव्यदृष्टि से एक स्वतंत्र त्रिकाल शुद्ध द्रव्य है। किंतु व्यवहार नय से जब तक कर्म-बंधनबद्ध होकर रागी-द्वेषी विकारी पर्याय में संसारी बना हुआ है तब तक पर्यायदृष्टि से अशुद्ध है और कर्मबंधन से मुक्त सिद्धदशा में शुद्ध कहा गया है।

—समयसार 6, द्रव्यसंग्रह 13

9—व्यवहार नय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-मय-रत्नत्रय मोक्षमार्ग है, किंतु निश्चय नय से सम्यग्दर्शनादि गुणों और आत्मा में अभेद होने से गुणनिधान आत्मा ही मोक्षमार्ग है ।

—द्रव्यसंग्रह 19, समयसार 7

इस प्रकार आचार्यों ने अनेकांत को जिनवाणी का प्राण मानकर दोनों नयों द्वारा निष्पक्ष भाव से आत्मा का वर्णन किया है । आचार्यश्री कुन्दकुन्द ने समयसार में यह भी स्पष्ट कर दिया है कि जीव में कर्म बंधे हैं और वे जीव को स्पर्शते हैं, ऐसा व्यवहार नय का कथन है और जीव में कर्म न बंधता है और न उसे स्पर्शता है, ऐसा शुद्ध नय का कथन है किंतु जीव में कर्म बंधे हैं या नहीं बंधे हैं ये दोनों विकल्प नयों के पक्ष हैं परन्तु समयसार पक्षातिक्रान्त है । ज्ञानी दोनों नयों से आत्म-स्वरूप को जानता है किंतु किसी नय का पक्ष ग्रहण नहीं करता क्योंकि वह ज्ञायकस्वभावी होने से निष्पक्ष होता है । यद्यपि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ये उसी शुद्ध समयसार के नाम हैं जिनसे वह भेद-रत्नत्रय के रूप में व्यवहार को प्राप्त है किंतु वस्तुतः वह सम्पूर्ण नयों के पक्षपात-रहित (निर्विकल्प) समयसार है जिसे अवक्तव्य भी कहा जा सकता है ।

प्रश्न—यदि सम्यग्ज्ञान के लिए दोनों नयों से आत्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है तो व्यवहार का आश्रय न लेकर निश्चय का आश्रय लेने का उपदेश समयसार में क्यों दिया और निश्चय की दृष्टि में व्यवहार का निषेध क्यों किया व व्यवहार को हेय क्यों बताया ?

उत्तर—आत्मा की संसार में क्या स्थिति या दशा है इसे जानने के लिए निश्चय और व्यवहार नय रूपी दोनों नेत्रों को खुले रखना आवश्यक है जिससे आत्मद्रव्य और उसका शुद्ध व अशुद्ध परिणामन भी ज्ञात हो जाय किंतु फिर आत्म-कल्याण करने के लिए क्या हेय और क्या उपादेय है इस दृष्टि से सम्पूर्ण व्यावहारिक विकल्पों का त्याग कर जो कि राग-द्वेष-मोहादि-रूप विकार हैं और जिन के करने से बंध होता है उन्हें हेय जान व निश्चय के विषयभूत शुद्ध चैतन्यमयी आत्मस्वरूप को उपादेय मान उसमें लीन हो जाना निर्वाण प्राप्ति के लिए अनिवार्य है । इस कारण पराश्रित सम्पूर्ण व्यवहार का निषेध किया है और उसे हेय भी बताया है । जब तक आत्मसाधक श्रावक या मुनिजन व्यवहार नय के विषय-भूत अर्ध्यवसानों (रागद्वेषादि विकारी विकल्पों) का परित्याग कर शुद्ध निश्चय के विषयभूत निर्विकल्प चैतन्य स्वभाव का आश्रय लेकर आत्मलीन न होंगे तब तक शुद्धात्मा की उपलब्धि (मुक्ति की प्राप्ति) संभव नहीं है, अतः सम्पूर्ण संकल्प-विकल्पों का जो पराश्रित व बंध के कारण हेय हैं और व्यवहार के विषय हैं, त्याग कराकर स्वाश्रित शुद्ध आत्मा की शरण लेने का उपदेश है । इससे यह न समझना चाहिये कि अर्ध्यवसानों का अस्तित्व ही नहीं है या उनका प्रतिपादक व्यवहार नय सर्वथा मिथ्या है जिसके विषय अर्ध्यवसान (रागद्वेषादि भाव) हैं ।

यहाँ यह समझ लेना भी आवश्यक है कि आंगम में जो व्यवहारधर्म के आचरण करने का उपदेश दिया है वह इसी उद्देश्य से दिया है कि जिससे भव्य को निश्चय-धर्म जो कि आत्मस्वरूप में लीनतारूप है, की प्राप्ति की योग्यता प्राप्त हो जाय और वह अशुभ का परित्याग कर शुभ भाव व सदाचार में प्रवृत्ति द्वारा आत्मसाधना कर सके जिसे पापाचार और विषय-कषाय में लिप्त रहते हुए कर सकना असंभव है, किंतु जब निश्चयाश्रित आत्म-लीनता-रूप साध्य की प्राप्ति हो जावेगी तब व्यवहारधर्म स्वयमेव निश्चय में लीन हो जावेगा। इसीलिए आचार्यों ने व्यवहारधर्म को निश्चयधर्म का साधन और निश्चयधर्म को साध्य भी कहा है। अंत में शुद्धात्मा की प्राप्ति हो जाने पर निश्चय-व्यवहार दोनों के पक्ष-विपक्ष रहित स्थिति स्वयमेव हो जाती है जिसे नयपक्षाति-क्रांत समयसार घोषित किया गया है।

सारांश यह है कि आत्म-कल्याण के लिए जिज्ञासुओं को बिना किसी नय का पक्षपात किये सर्वप्रथम आत्मा का गुण-पर्यायात्मक स्वरूप जान लेना आवश्यक है। तत्पश्चात् हेयोपादेय के विवेकपूर्वक अपनी शक्ति और पदानुसार व्यवहारधर्म का परिपालन करते हुए निश्चयधर्म की उपासना कर दूसरे शब्दों में धर्म-ध्यानपूर्वक शुद्ध ध्यानी बन आत्मशुद्धि कर अपने लक्ष्य परमात्मपद की प्राप्ति करने का प्रयत्न करना चाहिये जिसमें अविनाशी सुख सन्निहित है। यही जिनवाणी और समयसार का सारभूत उपदेश है।



परद्ववादो दुग्गइ

परद्ववरओ बज्भदि विरओ मुच्चेइ विविहकम्मेहि ।
एसो जिणउव्वेसो समासदो बंधमुखस्स ॥ 13 ॥

—परद्रव्य में अनुरक्त (प्राणी) विभिन्न प्रकार के कर्मों के द्वारा बांधा जाता (है), (परद्रव्य से) अनासक्त (प्राणी विविध प्रकार के कर्मों से) छुटकारा पाता है। बंध (अशान्ति) और मोक्ष (शान्ति) के विषय में यह संक्षेप से जिन-उपदेश है।



परद्ववादो दुग्गइ सद्ववादो हु सग्गई होई ।
इय एणाऊण सद्व्वे कुणह रई विरय इयरम्मि ॥ 16 ॥

—परद्रव्य के कारण दुर्गति (होती है), स्वद्रव्य के कारण निश्चय ही सुगति होती है। इस तरह (यह) जानकर स्वद्रव्य में अनुराग करो (और) शेष से विरति।

—मोक्षपाहुड

समयसार का 'समय'

—डॉ. महेन्द्रसागर प्रचण्डिया



दिगम्बर साहित्य के महान् प्रणेताओं में आचार्य कुन्दकुन्द का स्थान बड़े महत्त्व का है। इनकी सभी रचनाएँ शौरसेनी प्राकृत में रची गई हैं। प्रवचनसार, समयसार और पंचास्तिकाय आपके विश्रुत ग्रंथराज हैं। समयसार सर्वोत्कृष्ट आध्यात्मिक ग्रंथराज है। 'समयसार का समय' विषय पर संक्षेप में चर्चा करना हमारा मूलाभिप्रेत रहा है।

समय शब्द सम् उपसर्गपूर्वक अय शब्द के सहयोग से संगठित हुआ है। सम् का अर्थ है—एक साथ, एक काल में और अय गतौ घातु का अर्थ गमन होता है। इस प्रकार सम् तथा अय का अर्थ यह हुआ कि एक साथ एक रूप रहकर जाना, एक समय में एक अवस्था से दूसरी अवस्थारूप होना।

समस्य कालस्य सारः क्षणादि पलात्मकः समयसारः स च द्विविधः कार्यसमयसारः कारणसमयसारश्च। लोक में प्रचलित समय-क्षण, मिनट, सैकण्ड का बोध कराता है। जैन वाङ्मय में इसका अर्थ भिन्न है। वहाँ समय स्वभाव में स्थिर रहने को कहा जाता है। षट्द्रव्य—जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल अपने स्वभाव में स्थिर रहते हैं। अतः वह समय है। इन सब में आत्मद्रव्य ज्ञायक होने के कारण सारभूत है। आत्मद्रव्य का ही मुख्यता से कथन करने के कारण इस ग्रंथ का नाम समयसार है। स्वभाव, ध्येय, परम, आत्मा, तत्त्व आदि समयसार के अपर नाम हैं।

समयसार दो प्रकार से वर्णित है। यथा—

1. कार्यसमयसार
2. कारणसमयसार

कार्यसमयसार—क्रियातीत प्रशस्त अनन्तज्ञानादि से युक्त मध्यस्थ तथा शुद्धात्मा कार्य समयसार है। जबकि कारण समयसार में जीव के स्वभाव का ध्यान करने से कर्मों का क्षय होता है। इसी को आचार्य कुन्दकुन्द स्वसमय और परसमय का लाक्षणिक उद्बोध कराते हुए स्पष्ट कहते हैं—

जीवो चरित्तदंसरणगाणठिदो तं हि ससमयं जाणे ।

पोंगल कम्मपदेसट्ठिदं च तं जाण परसमयं ॥ 2 ॥

—अर्थात् जो जीव शुद्ध दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य में स्थित है उसे निश्चय से स्वसमय जानना चाहिए और जो जीव पौद्गलिक कर्मप्रदेशों में स्थित है उसको परसमय समझना चाहिए। पंडित बलभद्रजी 'समयसार' में पढमो जीवाधियारो की द्वितीय गाथा में 'जाणे' और 'जाण' के आशय को विश्लेषित करते हुए लिखते हैं—यहाँ 'जाणे' पद मुमुक्षुओं के लिए स्वेच्छापूर्वक जानने के आशय में प्रयुक्त हुआ है अर्थात् यह पद इच्छावाचक है और 'जाण' पद है आज्ञावाचक अतः जो जीव शुद्ध आत्माश्रित हैं वे स्वसमय कहलाते हैं। अरहन्त और सिद्ध ही स्वसमय हैं। क्षीणमोह गुणस्थान तक जीव परसमय है।

समय अर्थात् आत्मा अनादिकाल से कालकवलित पर्याय-संग होने से भव-भ्रमण कर रही है। परपदार्थ में आसक्त यह भला प्राणी उसी के साथ बंधा रहता है। राग-शुभ-अशुभ उसे अनंतानुबंधी प्रत्याख्यान, अप्रत्याख्यान तथा संजुलन स्तरीय ग्रंथियों में गुंथा रखता है। अशुभरागबंध तो जीव के ज्ञानावरणीय कर्मोदय का परिणाम होता है किन्तु शुभराग-पूजापाठ तप, संयमाचरण आदि प्राणी को लोहे की जंजीर की अपेक्षा स्वर्ण की शृंखला में बाँधने के समान है। जंजीर चाहे लोहे की हो चाहे स्वर्ण की अन्ततोगत्वा जंजीर-बंधन तो बंधन ही है। आचार्य कुन्दकुन्द सहजभाव में व्यक्त करते हैं—

जह बंधे चितंतो बंधणबद्धो ण पावदि विमोक्खं ।

तह बंधे चितंतो जीवो वि ण पावदि विमोक्खं ॥ 291 ॥

—अर्थात् जिस प्रकार बंधन में पड़ा हुआ कोई पुरुष-प्राणी उस बंधन की चिन्ता करता हुआ चिन्ता करने मात्र से छुटकारा नहीं पाता, उसी प्रकार जीव भी कर्मबंध की चिन्ता करने मात्र से मुक्ति नहीं पाता।

कर्म-बंध की कहानी बड़ी विचित्र और लम्बी है। सारभूत यह है कि इस चक्कर में फंसा हुआ यह प्राणी अपने स्वरूप को जानने और पहिचानने में सदा असमर्थ रहा है। जैसे-जैसे यह जीव बोध की ओर प्रवृत्त होता जाता है वैसे-वैसे ही स्वतंत्रता का अनुभव करने लगता है। विशुद्ध आत्मा सर्वथा स्वातंत्र्यमूला है इसलिए लोक में स्वावलम्बन की महिमा है। आज शाब्दिक चर्चा का बाहुल्य है। शास्त्र-वाची शब्द-पद का विश्लेषण करते रहते हैं और व्यवहार-निश्चय के व्याज से बद्ध आत्मा को निर्बन्ध बनाने का विवेचन किया करते हैं। कर्ममुक्ति विवेचन से नहीं, पुरुषार्थ से सम्भव होती है। आचार्य कुन्दकुन्द स्पष्ट घोषित करते हैं कि लिंग-मोही समयसार को नहीं जानते। यथा—

पासंडिय लिंगेसु व गिर्हिलिंगेसु व बहुप्पयारेसु ।
कुव्वति जे ममत्तं तेहि एण एणदं समयसारं ॥ 413 ॥

—जो लोग बहुत प्रकार के साधु-लिंगों अर्थात् चिह्नों में अथवा गृहस्थ लिंगों-चिह्नों में ममत्व करते हैं, उन्होंने समयसार को अर्थात् शुद्धात्मस्वरूप को नहीं जाना है। वे और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि बाह्य लिंग मोक्ष का मार्ग नहीं है। यथा—

पासंडिय लिंगाणि य गिर्हिलिंगाणि य बहुप्पयाराणि ।
धेत्तु वदन्ति मूढा लिंगमिणं मोक्खमग्गो त्ति ॥ 408 ॥

एण दु होदि मोक्खमग्गो लिंग जं देहणम्ममा अरिहा ।
लिंगं मुइत्तु दंसणणाणचरित्ताणि सेवन्ते ॥ 409 ॥

—अर्थात् अनेक प्रकार के साधु-वेष और गृहस्थ-वेष धारण करके अज्ञानीजन कहते हैं कि वेष ही मोक्षमार्ग है किन्तु द्रव्यलिंग मोक्ष का मार्ग नहीं है क्योंकि अर्हन्तदेव देह से ममत्वहीन हुए (बाह्य) लिंग को छोड़कर दर्शन, ज्ञान, चारित्र का सेवन करते हैं।

क्रिया और अज्ञान मिलकर रूढ़ि को जन्म देते हैं जबकि क्रिया और ज्ञान मिलकर साधना हो जाती है। जब साधक रूढ़िमुखी हो जाता है तब उसका क्रिया गया सारा श्रम निस्सार हो जाता है। ज्ञानपूर्वक क्रिया गया श्रम सर्वथा सार्थक होता है। ज्ञानी भी यदि भेदविज्ञानी नहीं है तो उसका भी कल्याण नहीं। एक रूढ़िवादी अज्ञानी अथवा ज्ञानी किन्तु भेदविज्ञानी नहीं और दूसरा ज्ञानी और भेदविज्ञानी एक ही विश्व-वीथिका पर चलता है तो भेदविज्ञानी कर्मबंध बिना, असंगवृत्तिपूर्वक पार हो जाता है किन्तु अभेद-विज्ञानी संग अर्थात् लगावपूर्वक पर-पदार्थों में ससंग हो जाता है और बाहर प्रबंधित होकर निकल पाता है। इसीलिए आचार्य स्पष्ट करते हैं कि कर्म-मुक्ति अर्थात् मोक्षमार्ग तो दर्शन, ज्ञान और चारित्र की समन्विति ही है। यथा—

एण वि एस मोक्खमग्गो पासंडिय गिर्हिमयाणि लिंगाणि ।
दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा विति ॥ 410 ॥

—अर्थात् साधु और गृहस्थ के लिंग अर्थात् चिह्न भी मोक्षमार्ग नहीं हैं, दर्शन, ज्ञान और चारित्र मोक्षमार्ग है ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं। इसीलिए गृहस्थ और साधुओं द्वारा ग्रहण किये हुए लिंगों को छोड़कर अपनी आत्मा को दर्शन, ज्ञान और चारित्र स्वरूप मोक्षमार्ग में लगाना चाहिए।

ममत्वरहित पदार्थबोध और उस पर दृढ़ श्रद्धान-विश्वास रखना वस्तुतः दर्शन कहलाता है। पदार्थ-बोध के साथ हेय और ज्ञेय भेद-बोध अर्थात् भेद-विज्ञानपूर्वक बोध ही ज्ञान कहलाता है। चरित्तकरं चारित्तं। जो पर-निधियाँ जोड़-बटोर रखी हैं, जिनमें लिप्त हैं, उनका चय उपचय और संचय छूटे तब चारित्र का रूप निखरता है। ऐसी दशा में जितने साधन-कारण और प्रयोग व्यवहार हैं उनका ज्ञानी, भेदविज्ञानी उपयोग तो करता है किन्तु उनमें ममत्व नहीं रखता। उसकी पर-पदार्थजन्य पूरी ममत्व-चिपकन

समाप्त हो जाती है, अज्ञानी-रूढ़िवादी उन शुभकारणों अथवा लिंगों से प्रायः जुड़-चिपक जाता है ।

जागतिक अथवा आध्यात्मिक दोनों मार्ग पर चलना है, ज्ञानी या भेदविज्ञानी तथा अज्ञानी दोनों यात्राओं के परिणाम तो भिन्न होंगे ही । इसीलिए हमारा चरण जागृत हो उठे तभी वह सदाचरण होगा और सदाचरण सदा मंगलाचरण का प्रवर्तन करता है ।

इस प्रकार समयसार के समय की सुन्दरता को प्रकाशित करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—

एयत्तणिच्छयगदो समओ सव्वत्थ सुन्दरो लोणे ।

बंधकहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होदि ॥ 3 ॥

—अर्थात् जीव अपने स्वभाव में रहने पर ही शोभा को प्राप्त होता है । यद्यपि 'समय' शब्द से घर्म, अघर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव सभी द्रव्यों के लिए अर्थ-बोध आ जाता है तथापि यहाँ 'समय' से वस्तुतः अभिप्रेत है आत्मा । पुद्गल कर्म के साथ जीव का बंध होने पर जीव में विसंवाद खड़ा होता है । इसी प्रकार घर्म, अघर्म आदि सभी अपने स्वभाव में ही सुन्दर होते हैं ।

उपसंहाररूप आचार्य कुन्दकुन्द समय-भेंट की महनीयता का मूल्य-अंकन करते हैं । यथा—

जो समय पाहुडमिणं पढिदूण य अत्थतच्चदो णादुं ।

अत्थे ठाहिदि चेदा सो होहिदि उत्तमं सोँखं ॥ 415 ॥

—अर्थात् जो भव्य आत्मा इस समयप्राभृत-भेंट को पढ़कर और इसके अर्थ और तत्त्व को जानकर अर्थभूत शुद्धात्मा में ठहरता है वही उत्तम सौख्यस्वरूप हो जाता है ।



प्रवचनसार में शुद्धोपयोग की महिमा एवं उस संबंधी गाथाओं का व्याकरणिक विश्लेषण

—डॉ० कमलचन्द सोगानी

□

शुद्धोपयोग (शुद्ध चैतन्य) की प्राप्ति संसार में कर्म करने की एक ऐसी शैली का व्यक्ति के जीवन में उदय है जिसके फलस्वरूप व्यक्ति कर्म करते हुए बन्धन से मुक्त रहता है। इस कारण उसके सभी कर्म राग-द्वेष-रहित होते हैं। आसक्ति-रहित होते हैं। इस कारण उसके सभी कर्म मूर्च्छारहित होते हैं, आत्मा की पूर्ण जागरूकता सहित होते हैं। ऐसे व्यक्ति को अरहंत भी कहा जाता है और केवलज्ञानी भी। संसार में हमें दो तरह के ही लोग दिखाई देते हैं (i) अशुभ कर्म करनेवाले (ii) शुभ कर्म करनेवाले। अशुभोपयोग (अशुभ चैतन्य) के कारण अशुभ कर्म किए जाते हैं और शुभोपयोग (शुभ चैतन्य) के कारण शुभ कर्म। शुभोपयोग या अशुभोपयोग द्वारा किए गए कर्म व्यक्ति को बन्धन में डालते हैं। इनके कारण व्यक्ति मानसिक तनाव से ग्रस्त रहता है। शुभ कर्म करनेवालों का मानसिक तनाव मंद होता है और अशुभ कर्म करनेवालों का मानसिक तनाव तीव्र होता है। प्रथम प्रकार के व्यक्ति को मंदकषायी और दूसरे प्रकार के व्यक्ति को तीव्रकषायी भी कहा गया है किन्तु शुद्धोपयोगपूर्वक किये गये कर्म कषायरहित होते हैं। इसलिये इन कर्मों में मानसिक तनाव का अभाव रहता है। आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित प्रवचनसार¹ में शुद्धोपयोगी या अरहंत या केवली की प्राप्तियों का दिग्दर्शन कराया गया है। उनसे संबंधित कुछ गाथाओं को हम यहाँ अनुवाद-सहित प्रस्तुत कर रहे हैं। साथ में व्याकरणिक विश्लेषण भी दिया जा रहा है जिससे मूलानुगामिता बनी रहे और पाठक स्वयं अनुवाद की जाँच कर सकें।

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिदिट्ठो ।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥ 7 ॥

—निस्संदेह चारित्र धर्म (होता है) । जो समता (है), वह निश्चय ही धर्म कहा गया (है) । (समझो) मोह (आध्यात्मिक विस्मरण) और क्षोभ (हर्ष-शोकादि द्वन्द्वात्मक प्रवृत्ति) से रहित आत्मा का भाव ही समता (कहा गया है) । (अतः समता ही चारित्र होता है) ।

जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो ।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसम्भावो ॥ 9 ॥

—जीव (जिसका) स्वभाव परिणमन (रूपान्तरण) (है), (वह) जब शुभ अशुभ तथा शुद्ध रूप में परिणमन करता है, तब (वह) निश्चय ही शुभ, अशुभ (और) शुद्ध हो जाता है ।

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो ।
पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं ॥ 11 ॥

—यदि आत्मा (व्यक्ति) शुद्ध (समतारूप) क्रियाओं से युक्त (होता है), (तो) (वह) धर्म (समता) के रूप में रूपान्तरित आत्मा (व्यक्ति) (कहा गया है) । (अतः) (वह) परम शान्तिरूपी सुख को प्राप्त करता है । तथा (यदि) (वह) शुभ क्रियाओं से युक्त (होता है), (तो) स्वर्गसुख को (प्राप्त करता है) ।

अइसयमाइसमुत्थं विसयातीदं अणोवममणंतं ।
अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुद्धवओगप्पसिद्धाणं ॥ 13 ॥

—शुद्ध-उपयोग (आत्मानुभव) से विभूषित (व्यक्तियों) का सुख श्रेष्ठ, आत्मोत्पन्न, विषयातीत, अनुपम, अनन्त तथा अविच्छिन्न (होता है) ।

सुविदिदपयत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो ।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगो त्ति ॥ 14 ॥

—श्रमण (जिसके द्वारा) तत्व (अध्यात्म) (तथा) (उसका प्रतिपादन करनेवाले) सूत्र-(ग्रन्थ) भली प्रकार से जान लिये गये (हैं), (जो) संयम और तप से संयुक्त (है), (जिसके द्वारा) राग (आसक्ति) समाप्त कर दिया गया/दी गई (है), (जिसके द्वारा) सुख और दुःख समान (समझ लिये गए हैं), (वह) शुद्धोपयोगवाला (समता को प्राप्त) कहा गया (है) ।

उबभ्रोगविसुद्धो जो विगदावरणंतरायमोहरभ्रो ।

भूदो सयमेवादा जादि परं णेयभूदाणं ॥ 15 ॥

— जो आत्मा (व्यक्ति) उपयोग (क्रिया) में शुद्ध (समतारूप) (हुआ है), (उसके द्वारा) (ज्ञान पर) आवरण, (शक्ति प्रकट होने में) बाधा (तथा) मोहरूपी (आध्यात्मिक विस्मरण एवं आसक्तिरूपी) धूल नष्ट कर दी गई (है) । (अतः) (वह) (आत्मा) स्वयं ही ज्ञेय पदार्थों को पूर्णरूप से जान लेता है ।

तह सो लद्धसहावो सब्बण्हू सब्बलोगपदिमहिदो ।

भूदो सयमेवादा हवदि सयंभु त्ति णिदिट्ठो ॥ 16 ॥

— तथा वह आत्मा (व्यक्ति) (जिसके द्वारा) स्वयं ही स्वभाव अनुभव कर लिया गया (है), (जो) (स्वयं) (ही) सर्वज्ञ हुआ (है), (जो) लोकाधिपति इन्द्र द्वारा पूजा गया (है), (वह) (वास्तव में) स्वयंभू (स्वयं ही उच्चतम अवस्था पर पहुँचा हुआ) होता है । इस प्रकार (अर्हन्तों द्वारा) कहा गया (है) ।

सोक्खं वा पुण दुक्खं केवलणाणस्स णत्थि वेहगदं ।

जम्हा भ्रदिदियत्तं जादं तम्हा दु तं णेयं ॥ 20 ॥

— चूँकि केवलज्ञानी (शुद्धोपयोगी) के अतिन्द्रियता उत्पन्न हुई (है), इसलिए ही (उसके जीवन में) शरीर के द्वारा प्राप्त सुख अथवा दुःख (विद्यमान) नहीं (होता है) । वह (यह) (बात) (वास्तव में) समझने योग्य (है) ।

णत्थि परोक्खं किंचि वि समंत सब्बक्खगुणसमिद्धस्स ।

अक्खातोदस्स सदा सयमेव हि णाणजादस्स ॥ 22 ॥

— निस्संदेह स्वयं ही (केवल/दिव्य) ज्ञान को प्राप्त (व्यक्ति) के लिए, सदा इन्द्रियों (की अधीनता) से परे पहुँचे हुए ज्ञान के लिए, सब ओर से सब इन्द्रियों के गुणों से (एक साथ) संपन्न (व्यक्ति) के लिए कुछ भी परोक्ष नहीं है ।

णेण्हदि णेव ण मंच्चदि ण परं परिणमदि केवली भगवं ।

पेच्छदि समंतदो सो जाणदि सब्बं णिरवसेसं ॥ 32 ॥

— केवली भगवान् पर (वस्तु) को न ग्रहण करते हैं (और) न ही छोड़ते हैं । वे सब ओर से (तथा) पूर्णरूप से सबको जानते हैं । (किन्तु) (इस कारण से) (स्वयं) रूपान्तरित नहीं होते हैं ।

परिणमदि णेयमट्ठं णादा जदि णेव खाइगं तस्स ।

णाणं ति तं जिणिदा खवयंतं कम्ममेवुत्ता ॥ 42 ॥

— यदि ज्ञाता ज्ञेय (जानने योग्य पदार्थ) में कभी रूपान्तरित नहीं होता है, (तो)

उसका ज्ञान कर्मों के क्षय से उत्पन्न (समझा जाना चाहिए) । इसलिए जिनेन्द्रों ने उसे ही कर्मों को क्षय करता हुआ (व्यक्ति) कहा (है) ।

ठाणणिसेज्जविहारा धम्मवदेसो य रणियदयो तेसि ।

अरहंताणं काले मायाचारो व्व इत्योणं ॥ 44 ॥

—उन अरहंतों के (उस) समय (अरहंत अवस्था) में खड़े रहना, बैठना, गमन करना तथा धर्म (अध्यात्म) का उपदेश देना—(ये सब क्रियाएँ) (लोक कल्याण के लिए) निश्चित रूप से (होती हैं), जैसे कि स्त्रियों में (बालक के कल्याण के लिए) माताओं का आचरण (होता है) ।

अत्थि अमुत्तं मुत्तं अदिदियं ईदियं च अत्थेसु ।

णाणं च तहा सोक्खं जं तेसु परं च तं णेयं ॥ 53 ॥

—पदार्थों के विषय में अतीन्द्रिय ज्ञान मूर्च्छारहित (होता है) तथा इन्द्रिय-ज्ञान मूर्च्छायुक्त (होता है) और इसी तरह (अतीन्द्रिय-इन्द्रिय) सुख (भी) (मूर्च्छारहित तथा मूर्च्छायुक्त) (होता है) । इसलिए उनमें जो श्रेष्ठ (है), वह समझा जाना चाहिए ।

जादं सयं समत्तं णामणंतत्थवित्थडं विमलं ।

रहियं तु ओगहादिहिं सुहं ति एगंतियं भणियं ॥ 59 ॥

—जो ज्ञान अपने आप उत्पन्न (है), पूर्ण (है), शुद्ध (है), अनन्त पदार्थों में फैला हुआ (है) और अवग्रहादि (की सीमाओं) से रहित (है), (वह) अद्वितीय सुख कहा गया (है) ।

जं केवलं ति णाणं तं सोक्खं परिणमं च सो चेव ।

खेदो तस्स ण मणिवो जम्हा घादो खयं जादा ॥ 60 ॥

—जो केवलज्ञान (है), वह सुख (है) । (और) निश्चय ही (केवलज्ञान के रूप में) वह रूपान्तरण (सुख) ही (है) । उसके (केवलज्ञानी के/शुद्धोपयोगी के) (जीवन में) खेद (मानसिक तनाव) नहीं कहा गया (है), चूंकि (उसके) घातिया (मानसिक तनाव उत्पन्न करनेवाले) कर्म क्षय को प्राप्त हुए (हैं) ।

णो सहंति सोक्खं सुहेसु परमं ति विगदघादीणं ।

सुण्णिदूण ते अमव्वा भव्वा वा तं पडिच्छति ॥ 62 ॥

—घातिया (मानसिक तनाव को उत्पन्न करनेवाले) कर्मों को नष्ट करनेवाले (व्यक्तियों) का सुख (सब) सुखों में उत्कृष्ट (होता है) । इस प्रकार जानकर (जो) (उस पर) श्रद्धा नहीं करते हैं, वे अमव्य (मानसिक तनाव में रुचि रखनेवाले) (हैं) और जो उसको स्वीकार करते हैं, (वे) भव्य (समता में रुचि रखनेवाले) (हैं) ।

जेसि विसयेसु रदी तेसि दुक्खं वियाण सम्भावं ।

जइ तं ण हि सम्भावं वावारो णत्थि विसयत्थं ॥ 64 ॥

—जिन (व्यक्तियों) के (जीवन में) (इन्द्रिय)-विषयों में रस है, उनके (जीवन में) दुःख (मानसिक तनाव) (एक) वास्तविकता (है) । (इस बात को) (तुम) समझो, क्योंकि यदि वह (दुःख) वास्तविकता न (होता), (तो) (इन्द्रिय)-विषयों के लिए प्रवृत्ति (बार-बार) न (होती) ।

तिमिरहरा जइ दिट्ठी जणस्स दीवेण णत्थि कायव्वं ।

तह सोक्खं सयमादा विसया कि तत्थ कुव्वन्ति ॥ 67 ॥

—यदि मनुष्य की आँख (स्वयं) (वस्तुओं के प्रति) अन्वेषण को हटानेवाली (है), (तो) दीपक के द्वारा (कुछ भी) किए जाने योग्य नहीं (रहता है) । उसी प्रकार (जब) स्वयं आत्मा ही सुख (है). (तो) वहाँ पर (इन्द्रियों के) विषय क्या प्रयोजन (सिद्ध) करेंगे ?

एवं विदिदत्थो जो दब्बेसु ण रागमेदि दोसं वा ।

उवओगविसुद्धो सो खवेदि देहुम्मवं दुक्खं ॥ 78 ॥

—इस प्रकार (जिसके द्वारा) वस्तुस्थिति (पुण्य-पाप में मानसिक तनाव-आत्मक समानता) जानी गई (है), (और जिसके फलस्वरूप) जो वस्तुओं के प्रति राग-द्वेष (आसक्ति) नहीं करता है, वह उपयोग (चैतन्य) से शुद्ध (रहता है) (तथा) देह से उत्पन्न दुःख को समाप्त कर देता है ।

जीवो ववगदमोहो उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं ।

जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाणं लहदि सुद्धं ॥ 81 ॥

—(जिस व्यक्ति के द्वारा) मोह (आध्यात्मिक विस्मरण) समाप्त किया गया (है), (उस) व्यक्ति ने पूर्णतः आत्मा के सार को प्राप्त किया (है) । यदि वह राग-द्वेष (आसक्ति) को छोड़ देता है, (तो) (वह) अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेगा ।

1. प्रवचनसार, सम्पादक—डॉ० ए. एन. उपाध्ये, प्र०—श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, 1964 ।

संकेत-सूची

(अ) —अव्यय (इसका अर्थ = लगाकर लिखा गया है)

अक —अकर्मक क्रिया

अनि —अनियमित

आज्ञा —आज्ञा

कर्म —कर्मवाच्य

(क्रिविअ) —क्रिया विशेषण अव्यय
(इसका अर्थ = लगाकर लिखा गया है)

तुवि —तुलनात्मक विशेषण

पु —पुल्लिग

प्रे —प्रेरणार्थक क्रिया

भकृ —भविष्य कृदन्त

भवि —भविष्यत्काल

भाव —भाववाच्य

भू —भूतकाल

भूकृ —भूतकालिक कृदन्त

व —वर्तमानकाल

वकृ —वर्तमान कृदन्त

वि —विशेषण

विधि —विधि

विधिकृ —विधि कृदन्त

स —सर्वनाम

संकृ —सम्बन्ध कृदन्त

सक —सकर्मक क्रिया

सवि —सर्वनाम विशेषण

स्त्री —स्त्रीलिग

हेकृ —हेत्वर्थ कृदन्त

() —इस प्रकार के कोष्ठक में मूल शब्द रक्खा गया है।

[() + () + ()....]

इस प्रकार के कोष्ठक के अन्दर + चिह्न किन्हीं शब्दों में संधि का द्योतक है। यहाँ अन्दर के कोष्ठकों में गाथा के शब्द ही रख दिये गये हैं।

[() — () — ()....]
इस प्रकार के कोष्ठक के अन्दर '—' चिह्न समास का द्योतक है।

[[() — () — ()....] वि]
जहाँ समस्त पद विशेषण का काम करता है, वहाँ इस प्रकार के कोष्ठक का प्रयोग किया गया है।

• जहाँ कोष्ठक के बाहर केवल संख्या [जैसे 1/1, 2/1....आदि] ही लिखी है, वहाँ कोष्ठक के अन्दर का शब्द 'संज्ञा' है।

• जहाँ कर्मवाच्य, कृदन्त आदि प्राकृत के नियमानुसार नहीं बने हैं, वहाँ कोष्ठक के बाहर 'अनि' भी लिखा गया है।

1/1—प्रथमा/एकवचन

1/2—प्रथमा/बहुवचन

2/1—द्वितीया/एकवचन

2/2—द्वितीया/बहुवचन

3/1—तृतीया/एकवचन

3/2—तृतीया/बहुवचन

4/1—चतुर्थी/एकवचन

4/2—चतुर्थी/बहुवचन

5/1—पंचमी/एकवचन

5/2—पंचमी/बहुवचन

6/1—षष्ठी/एकवचन

6/2—षष्ठी/बहुवचन

7/1—सप्तमी/एकवचन

7/2—सप्तमी/बहुवचन

8/1—संबोधन/एकवचन

8/2—संबोधन/बहुवचन

1/1 अक या सक—उत्तम पुरुष/एकवचन

1/2 अक या सक—उत्तम पुरुष/बहुवचन

2/1 अक या सक—मध्यम पुरुष/एकवचन

2/2 अक या सक—मध्यम पुरुष/बहुवचन

3/1 अक या सक—अन्य पुरुष/एकवचन

3/2 अक या सक—अन्य पुरुष/बहुवचन

व्याकरणिक विश्लेषण

चारित्तं (चारित्त) 1/1 खलु (अ) = निस्सन्देह धम्मो (धम्म) 1/1 जो (ज) 1/1 सवि सो (त) 1/1 सवि समो (सम) 1/1 त्त(अ) = निश्चय ही णिद्धिट्ठो (णिद्धिट्ठ) भूक 1/1 अनि मोहक्खोहविहीणो [(मोह)-(क्खोह)-(विहीण) भूक 1/1 अनि] परिणामो (परिणाम) 1/1 अप्पणो (अप्पण) 6/1 हु (अ) = ही ।

जीवो (जीव) 1/1 परिणमदि (परिणम) व 3/1 अक जदा (अ) = जब सुहेण¹ (सुह) 3/1 वि असुहेण¹ (असुह) 3/1 वि वा (अ) = तथा सुहो (सुह) 1/1 वि असुहो (असुह) 1/1 वि सुद्धेण¹ (सुद्ध) 3/1 वि तदा (अ) = तब सुद्धो (सुद्ध) 1/1 वि हवदि (हव) व 3/1 अक हि (अ) = निश्चय ही परिणामसम्भावो [(परिणाम)-(स) वि-(म्भाव) 1/1] ।

1. कभी-कभी तृतीया विभक्ति का प्रयोग सप्तमी के स्थान पर पाया जाता है (हेम प्राकृत व्याकरण, 3-137) ।

धम्मेश¹ (धम्म) 3/1 परिणदप्पा [(परिणद) + (अप्पा)] [(परिणद) भूक अनि —(अप्प) 1/1] अप्पा (अप्प) 1/1 जदि (अ) = यदि सुद्धसंपयोगजुवो [(सुद्ध) वि—(संपयोग)—(जुद) भूक 1/1 अनि] पावदि (पाव) व 3/1 सक णिव्वाणसुहं [(णिव्वाण)-(सुह) 2/1] सुहोवज्जुत्तो [(सुह)—(उवजुत्त) भूक 1/1 अनि] व (अ) = तथा सगसुहं [(सग)-(सुह) 2/1] ।

1. कभी-कभी तृतीया विभक्ति का प्रयोग सप्तमी के स्थान पर पाया जाता है (हेम प्राकृत व्याकरण, 3-137) ।

अइसयमादसमुत्थं [(अइसय) + (आद) + (समुत्थं)] अइसयं (अइसय) 1/1 वि [(आद)—(समुत्थ) 1/1 वि] विसयातीदं [(विसय) + (अतीदं)] [विसय)—(अतीद) 1/1 वि] अणोवममणंतं [(अणोवमं) + (अणंतं)] अणोवमं (अणोवम) 1/1 वि अणंतं (अणंत) 1/1 वि अब्बुच्छिन्नं (अब्बुच्छिन्न) 1/1 वि च (अ) = तथा सुहं (सुह) 1/1 सुद्धवओगप्पसिद्धाणं [(सुद्ध) + (उवओग) + (प्पसिद्धाणं)] [(सुद्ध) वि - (उवओग)—(प्पसिद्ध) भूक 6/2 अनि] ।

सुविदिदपयत्थसुत्तो [(सु) अ=भली प्रकार से—(विदिद) भूकृ अनि—(पयत्थ) —(सुत्त) 1/1] संजमतवसंजुदो [(संजम)—(तव)—(संजुद) भूकृ 1/1 अनि] विगदरागो [(विगत) भूकृ अनि—(राग) 1/1] समणो (समण) 1/1 समसुहदुवलो [(सम) वि—(सुह)—(दुक्ख) 1/1] भणियो (भण) भूकृ 1/1 सुद्धोवओगो [[(सुद्ध) वि—(उवओग) 1/1]वि] त्ति (अ)=समाप्तिसूचक ।

उवओगविसुद्धो [(उवओग)—(विसुद्ध) 1/1 वि] जो (ज) 1/1 सवि विगदावरणंतरायमोहरओ [(विगद) + (आवरण) + (अंतराय) + (मोह) + (रओ)] [(विगद) भूकृ—(आवरण)—(अंतराय)—(मोह)—(रओ) 1/1] भूदो (भूद) भूकृ 1/1 अनि सयमेवादा [(सयं) + (एव) + (आदा)] सयं (अ)=स्वयं, एव (अ)=ही, आदा (आद) 1/1, जादि (जा) व 3/1 सक परं (अ)=पूर्णां रूप से णेयभूदाणं [(णोय)—(भूद)¹ 6/2] ।

1. कभी कभी द्वितीया विभक्ति के स्थान पर षष्ठी का प्रयोग पाया जाता है
(हेम प्राकृत व्याकरण, 3-134) ।

तह(अ)=तथा सो (त) 1/1 सवि लद्धसहावो[(लद्ध) भूकृ अनि—(सहाव) 1/1] सव्वण्ह (सव्वण्ह) 1/1 वि सव्वलोगपदिमहिदो [(सव्व)-(लोगपदि)-(मह) भूकृ 1/1] भूदो (भूद) भूकृ 1/1 अनि सयमेवादा [(सयं) + (एव) + (आदा)] सयं (अ)=स्वयं एव (अ)=ही आदा (आद) 1/1 हवदि (हव) व 3/1 अक सयंभु (सयंभु) 1/1 वि आगे संयुक्त अक्षर आने से दीर्घ का ह्रस्व हुआ है । त्ति (अ)=इस प्रकार णिदिट्ठो (णिदिट्ठ) भूकृ 1/1 अनि ।

सोक्खं (सोक्ख) 1/1 वा (अ)=अथवा पुण (अ)=पादपूरक दुक्खं (दुक्ख) 1/1 केवलणाणिसस (केवलणाणि) 6/1 वि णत्थि (अ)=नही देहगवं[(देह)-(गद) भूकृ 1/1 अनि] जम्हा (अ)=चूँकि अदिदियत्तं (अदिदियत्त) 1/1 जादं (जा) भूकृ 1/1 तम्हा (अ)=इसलिए दु (अ)=ही तं (त) 1/1 सवि णेयं (णोय) विधिकु 1/1 अनि ।

णत्थि (अ)=नहीं परोक्खं (परोक्ख) 1/1 किंचि वि (अ)=कुछ भी समंत (अ)=सब ओर से सव्वक्खणुणसमिद्धस्स [(सव्व) + (अक्ख) + (गुण) + (समिद्ध) भूकृ 4/1 अनि] अक्खातीदस्स [(अक्ख) + (अतीदस्स)][(अक्ख)-(अतीद) भूकृ 4/1 अनि] सदा (अ)=सदैव सयमेव [(सयं) + (एव)] सयं (अ)=स्वयं एव (अ)=ही हि (अ)=निस्संदेह णाणजावस्स [(णाण)-(जाद) भूकृ 4/1] ।

णेण्हदि (णेण्ह) व 3/1 सक णेव (अ)=न ही ण (अ)=न मुंचदि (मुंच) व 3/1 सक परं (पर) 2/1 वि परिणमदि (परिणम) व 3/1 अक केवली (केवलि) 1/1 भगवं (भगव) 1/1 पेच्छदि (पेच्छ) व 3/1 सक समंतदो (अ)=सब ओर से

सो (त) 1/1 सवि जाणदि (जाण) व 3/1 सक सव्वं (सव्व) 2/1 सवि गिरवसेसं (क्विअ) = पूर्ण रूप से ।

परिणमदि (परिणम) व 3/1 अक णेयमट्ठं [(रोयं) + (अट्ठं)] णेयं (रोय) विधिक्र 1/1 अनि अट्ठं¹ (अट्ठ) 2/1 णावा (णाउ) 1/1 वि जदि (अ) = यदि णेव (अ) = कभी नहीं खाइगं (खाइग) 1/1 वि तस्स (त) 6/1 स णाणं (णाण) 1/1 ति (अ) = इसलिए तं (त) 2/1 वि जिण्णिदा (जिण्णिद) 1/2 खवयंतं² (खवयंतं) वक्क 2/1 अनि कम्ममेवुत्ता [(कम्मं) + (एव) + (उत्ता)] कम्मं (कम्म) 2/1 एव (अ) = ही उत्ता (उत्त) भूक्क 1/2 अनि ।

1. कमी कमी सप्तमी विभक्ति के स्थान पर द्वितीया का प्रयोग पाया जाता है
(हेम प्राकृत व्याकरण, 3-137) ।

2. क्षप् (अय) → क्षपय (वक्क) → क्षपयत् → क्षपयन्तं (2/1) → खवयंतं (2/1 अनि)

नोट : इस गाथा का अर्थ पारंपरिक अर्थ से भिन्न किया गया है, विद्वान विचार करें ।
व्याकरण से यही अर्थ ठीक बैठता है ।

ठाणणिसेज्जविहारा [(ठाण)-(णिसेज्ज)¹-(विहार) 1/2] धम्मवदेसो [(धम्म) + (उवदेसो)] [(धम्म)-(उवदेस) 1/1] य (अ) = और णियदयो² (णियद) पंचमी अर्थक 'यो' प्रत्यय (अव्यय का कार्य कर रहा है) तेसि (त) 6/2 स अरहंताणं (अरहंत) 6/2 काले (काल) 7/1 मायाचारो [(माया)-(चार) 1/1] व्व (अ) = जैसे कि इत्थीणां³ (इत्थि) 6/2 ।

1. समासगत शब्दों में रहे हुए स्वर परस्पर में ह्रस्व के स्थान पर दीर्घ और दीर्घ के स्थान पर ह्रस्व हो जाया करते हैं णिसेज्जा → णिसेज्ज
(हेम प्राकृत-व्याकरण, 1-4) ।

2. णियदमो (अ) = अवश्य, निश्चित रूप से

3. कमी कमी सप्तमी के स्थान पर षष्ठी का प्रयोग पाया जाता है
(हेम प्राकृत व्याकरण, 3-134) ।

अत्थि (अ) = है अमुत्तं (अमुत्त) 1/1 वि मुत्तं (मुत्त) 1/1 वि अदिदियं (अदिदिय) 1/1 वि इंदियं (इंदिय) 1/1 वि च (अ) = तथा अत्थेसु (अत्थ) 7/2 णाणं (णाण) 1/1 च (अ) = और तथा (अ) = इसी तरह सोक्खं (सोक्ख) 1/1 जं (ज) 1/1 सवि तेसु (त) 7/2 स परं (पर) 1/1 वि च (अ) = इसलिए तं (त) 1/1 सवि णेयं (रोय) विधिक्र 1/1 अनि ।

जादं (जाद) भूकृ 1/1 अनि सयं (अ) =अपने आप समत्तं (अ) =पूर्ण
 राणमणंतत्थवित्थडं [(राणं) + (अणंत) + (अत्थ) + (वित्थडं)] राणं (राण)
 1/1 [(अणंत) वि-(अत्थ)-(वित्थड) 1/1 वि] विमलं (विमल) 1/1 वि रहिय (रह)
 भूकृ 1/1 तु (अ) =और ओग्गहादिहिं [(ओग्गह) + (आदिहिं)] [(ओग्गह)-(आदि)
 3/2] सुहं (सुह) 1/1 ति (अ) =स्पष्टीकरण एगंतियं (एगंतिय) 1/1 वि मणियं
 (मण) भूकृ 1/1 ।

जं (ज) 1/1 सवि केवलं (केवल) 1/1 वि त्ति(अ) = स्पष्टीकरण णाणं (राण)
 1/1 तं (त) 1/1 सवि सोक्खं (सोक्ख) 1/1 परिणमं¹ (परिणम) 2/1 च (अ) =
 निश्चय ही सो (त) 1/1 सवि चेव (अ) =ही खेदो (खेद) 1/1 तस्स (त) 6/1 स
 ण (अ) =नहीं मणियो (मण) भूकृ 1/1 जम्हा (अ) =चूँकि घादी (घादि)
 1/2 वि खयं (खय) 2/1 जादा (जा) भूकृ 1/2 ।

1. कभी कभी द्वितीया का प्रयोग प्रथमा के स्थान पर होता है
 (हेम प्राकृत व्याकरण, 3-137 वृत्ति) ।

यहाँ 'परिणाम' का 'परिणम' किया गया है (हेम प्राकृत व्याकरण, 1-67) ।

णो (अ) =नहीं सदहंति (सदह) व 3/2 सक सोक्खं (सोक्ख) 1/1 सुहेसु
 (सुह) 7/2 परमं (परम) 1/1 वि विगदघादीणं [[(विगद) भूकृ अनि-(घादि) 6/2]
 वि] सुणिद्वण (सुण) संकृ ते (त) 1/2 सवि अमव्वा (अमव्व) 1/2 वि मव्वा (मव्व)
 1/2 वि वा (अ) =और तं (त) 2/1 सवि पडिच्छंति (पडिच्छ) व 3/2 सक ।

जेसं (ज) 6/2 स विसयेसु (विसय) 7/2 रदी (रदि) 1/1 तेसं (त) 6/2 स
 दुक्खं (दुक्ख) 1/1 वियाण (वियाण) विधि 2/1 सक सम्भावं¹ (सम्भाव) 2/1
 जइ (अ) =यदि तं (त) 1/1 सवि ण (अ) =नहीं हि (अ) =क्योंकि सम्भावं¹
 (सम्भाव) 2/1 वावारो (वावार) 1/1 एत्थि (अ) =नहीं विसयत्थं (विसय) चतुर्थी
 द्योतक 'अत्थं' लगाया गया है ।

1. कभी कभी द्वितीया विभक्ति का प्रयोग प्रथमा के स्थान पर पाया जाता है
 (हेम प्राकृत व्याकरण, 3-137 वृत्ति)

सम्भाव (सद्भाव) =वास्तविकता

तिमिरहरा [(तिमिर)¹—(हर (स्त्री) → हरा) 1/1 वि] जइ (अ) =यदि दिट्ठी
 (दिट्ठि) 1/1 जणस्स (जण) 6/1 दीवेण (दीव) 3/1 एत्थि (अ) =नहीं कायव्वं
 (कायव्व) विधिकृ 1/1 अनि तह (अ) =उसी प्रकार सोक्खं (सोक्ख) 1/1 सयमादा
 [(सयं) + (आदा)] सयं (अ) =स्वयं आदा (आद) 1/1 विसया (विसय) 1/1 कि
 (क) 1/1 सवि तत्थ (अ) =वहाँ पर कुब्बंति² (कुव्व) व 3/2 सक ।

1. तिमिर = अन्धापन (आप्टे : संस्कृत-हिन्दी कोष) ।

2. वर्तमान का प्रयोग भविष्यत् अर्थ में हुआ है ।

एवं (अ) = इस प्रकार से विदित्थो [(विदिद) + (अत्थो)] [(विदिद) भूकृ
अनि—(अत्थ) 1/1] जो (ज) 1/1 सवि दच्छेसु (दच्च) 7/2 ण (अ) = नहीं रागमेदि
[(रागं) + (एदि)] रागं (राग) 2/1 एदि (ए), व 3/1 सक दोसं (दोस) 2/1 वा
(अ) = और उवओगविसुद्धो [(उवओग) — (विसुद्ध) भूकृ 1/1 अनि] सो (त) 1/1
सवि खवेदि (खव) व 3/1 सक देहउभवं [(देह) + (उभवं)] [(देह) — (उभवं)¹
2/1 वि] दुक्खं (दुक्ख) 2/1 ।

1. प्रायः समास के अन्त में 'से उत्पन्न' अर्थ को प्रकट करता है ।

जीवो (जीव) 1/1 ववगदमोहो [(ववगद)भूकृ अनि—(मोह) 1/1] उवलद्धो
(उवलद्ध) भूकृ 1/1 अनि तच्चमप्पणो [(तच्चं) + (अप्पणो)] तच्चं (तच्च) 2/1
अप्पणो (अप्पण) 6/1 सम्भं (अ) = पूर्णतः जहदि (जह) व 3/1 सक जदि (अ) =
यदि रागदोसे [(राग) — (दोस) 2/2] सो (त) 1/1 सवि अप्पाणं (अप्पाण) 2/1
लहदि (लह) व 3/1 सक सुद्धं (सुद्ध) भूकृ 2/1 अनि ।



सो ज्ञायइ अप्पयं सुद्धं

जो इच्छइ गिस्सरिदुं संसारमहण्णवाउ रुद्दाओ ।
कम्मिधराण उहणं सो भायइ अप्पयं सुद्धं ॥ 26 ॥ मो. पा.

—जो भीषण संसाररूपी महासागर से (बाहर) निकलने की चाह रखता है वह कर्मरूपी ईंधन को जलानेवाली शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है ।

×

×

×

सव्वे कसाय मोत्तुं गारवमयरायदोसवामोहं ।
लोयववहारविरदो अप्पा भायइ भाणत्थो ॥ 27 ॥ मो. पा.

—ध्यान में स्थित व्यक्ति लोक-व्यवहार से विमुख (तथा) लालसा, अहंकार, राग-द्वेष, व्याकुलता और सभी कषायों को छोड़कर आत्मा को ध्याता है ।

×

×

×

जह दीवो गढ्ढहरे मास्यबाहाविवज्जिओ जलइ ।
तह रायानिलरहिओ भाणपईवो वि पज्जलइ ॥ 122 ॥ भा. पा.

—जिस प्रकार घर के भीतर के कमरे में (गर्मगृह में) हवा की बाधा से रहित दीपक जलता है, उसी प्रकार रागरूपी हवा से रहित ध्यानरूपी दीपक भी जलता है ।

प्रवचनसार का सार

—डॉ. प्रेमचन्द रावका



श्रमणधारा के तत्त्व-चिन्तन के इतिहास में भगवान् महावीर और गौतम गणधर के पश्चात् प्रातःवन्दनीय कलिकालसर्वज्ञ श्री पद्मनन्दि कुन्दकुन्दाचार्य भास्कर सदृश भासमान हैं जिन्होंने विक्रम की प्रथम शती में प्राकृत वाणी में यह सिद्ध किया कि कोई भी मानव परमतत्त्व को अपनी स्वानुभूति द्वारा प्राप्त कर सकता है। आचार्यों की परम्परा में अध्यात्म-ग्रन्थों के निर्माण का आचार्य कुन्दकुन्द को महान् श्रेय प्राप्त है। उनका यह शाश्वत उद्घोष है कि आत्मज्ञान से ही स्वानुभव हो सकता है। दिगम्बर साधु अपने-आपको कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा का मानने में गर्व अनुभव करते हैं। परवर्ती ग्रन्थकारों एवं टीकाकारों के लिए कुन्दकुन्द प्रेरणास्रोत रहे हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द के पंचास्तिकाय संग्रह, प्रवचनसार, समयसार, नियमसार, बारह अणुपेक्खा, अष्टपाहुड़, दशभक्ति, रयणसार आदि चौरासी पाहुड़ों में से प्रथम पांच ग्रन्थ सर्वप्रसिद्ध हैं। इनमें प्रथम तीन नाटकत्रय या प्राभूतत्रय कहलाते हैं। दिगम्बर परम्परा में इन तीन ग्रन्थों का वही स्थान है जो वेदान्तियों के प्रस्थानत्रय—उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता का उनकी परम्परा में है। ये तीनों ग्रन्थ दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य की रत्नत्रयी हैं।

‘प्रवचनसार’ आचार्य कुन्दकुन्द का ज्ञान-चारित्र्य-प्रधान आध्यात्मिक ग्रन्थ है जो श्रावक और श्रमण दोनों के हेतु अपरिहार्य है। इस ग्रन्थ की प्राकृतभाषा में निबद्ध 275 गाथाओं में ज्ञान-ज्ञेय की स्वतंत्रता एवं मुमुक्षु मुनियों के चारित्र्य का सांगोपांग वर्णन

उपलब्ध है। आचार्यों, मुनियों एवं गृहस्थ श्रावकों में स्वाध्यायार्थ प्रिय इस ग्रन्थ की संस्कृत एवं भाषा में अनेक टीकाएँ मिलती हैं जिनमें आत्म-जिज्ञासु एवं दीक्षार्थी साधक के लिए अभीष्ट मार्गदर्शन प्राप्त होता है।

आचार्य कुन्दकुन्द के अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा 'प्रवचनसार' की रचना सुव्यवस्थित है, जिसमें विषय-वस्तु का निरूपण क्रमशः प्रवर्तमान होता है। महत्त्व का तथ्य यह है कि इसमें ग्रन्थकार मात्र रचना ही नहीं करता अपितु आत्म-ज्ञान-पिपासुओं की सहज उत्पन्न होनेवाली जिज्ञासा एवं शंकाओं की पूर्वकल्पना करके यथास्थान उनका समाधान भी करता चलता है। जैनाचार्यों की जनसामान्य के उपयोगार्थ अपने समय की प्रचलित लोकभाषा में ग्रन्थ-रचना की जो परम्परा मिलती है उसका उत्स आचार्य कुन्दकुन्द की वाणी में द्रष्टव्य है। यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्द का यह ग्रन्थ आध्यात्मिक/ दार्शनिक होते हुए भी सहज ही सर्वजनोपयोगी शिक्षा ग्रन्थ बन गया है जो पाठक की रुचि को स्वाध्यायार्थ पुनः पुनः जागृत करता है।

प्रस्तुत लघु आलेख में आचार्य कुन्दकुन्द के 'प्रवचनसार' ग्रन्थ के कतिपय मुख्य-मुख्य स्थलों को अभीष्ट ग्राह्य शिक्षा के रूप में विवेचित किया गया है।

आत्मज्ञान के लिए आगमज्ञान की आवश्यकता

आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने प्रवचनसार ग्रन्थ में पदे-पदे आगमज्ञान की आवश्यकता प्रतिपादित की है। उनका कथन है कि जब तक पदार्थों का निश्चय न हो कोई पुरुष एकाग्र होकर श्रेयस् की उपलब्धि नहीं कर सकता। एकाग्रता वही प्राप्त कर सकता है जिसे पदार्थों का निश्चय हो गया हो। जो एकाग्र हो वही श्रमण है। पदार्थों का निश्चय आगम/शास्त्र के स्वाध्याय से होता है। अतएव सर्वप्रथम आगमज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। क्योंकि शास्त्रज्ञानहीन पुरुष पदार्थ का निश्चय नहीं कर सकता। पदार्थ के निश्चय बिना मनुष्य स्व-पर का/आत्मा-अनात्मा का स्वरूप नहीं समझ सकता और जब तक स्व-पर का विवेक या भेद-ज्ञान न हो तब तक कर्मों का नाश संभव नहीं। अतएव इस सबके मूल में आगम ग्रन्थों का स्वाध्याय अत्यन्त आवश्यक है—

एयमगदो समणो एयमं णिच्छिदस्स अत्थेसु ।

णिच्छिती आगमदो आगमचेट्ठा तवो जेट्ठा ॥ 3.32 ॥

—श्रमण एकाग्रवान होता है, एकाग्रता पदार्थों में निश्चय से होती है। पदार्थों का निश्चय आगम से होता है। अतः आगम-चेष्टा ही श्रेष्ठ है।

आगमहीणो समणो रोवप्पाणं परं वियाणादि ।

अविजाणतो अत्थे खवेदि कम्मणि किय भिक्खू ॥ 3.33 ॥

—आगम-ज्ञान-हीन श्रमण न तो अपना ही स्वरूप जानता है और न पर का ही। जिसे स्व-पर का भेद-ज्ञान नहीं, वह कर्मों का क्षय कैसे कर सकता है ?

आगमचक्षू साह. इंदियचक्षूणि सव्वभूबारिण ।

देवा य भोहिचक्षू सिद्धा पुण सव्वदो चक्षू ॥ 3.34 ॥

—आगम साधु श्रमणों के चक्षु (नेत्र) हैं। सामान्य जीवधारियों की तो इन्द्रियां चक्षु होती है। देवों के भ्रवधिज्ञान चक्षु है और सिद्धों को सर्वतः चक्षु है क्योंकि सिद्ध सर्वज्ञ हैं उनके लिए सब पदार्थ हस्तामलकवत् हैं।

सव्वे आगमसिद्धा अत्था गुणपज्जएहि चित्तेहि ।

जाएणंति आगमेण हि पेच्छित्ता तेवि ते समणा ॥ 3.35 ॥

—समस्त पदार्थों का गुण-पर्याय-सहित ज्ञान आगम में है। श्रमण आगम से ही उन्हें देख एवं जान सकता है।

श्रद्धा

स्वाध्याय से उत्पन्न ज्ञान से पदार्थ का निश्चय होने पर श्रद्धा का होना आवश्यक है। आगम पढ़ने पर भी यदि तत्त्वार्थ में श्रद्धा न हो तो मुक्ति नहीं मिल सकती। साथ ही श्रद्धा के साथ यदि तदनुकूल संयमाचरण नहीं हो तो भी निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—

आगमपुब्बा बिट्ठी ए भवदि जस्सेह संजमो तस्स ।

एत्थित्ति मणह सुत्तं असंजदो हवदि किध समणो ॥ 3.36 ॥

—आगमपूर्वक जिसकी दृष्टि/श्रद्धा नहीं होती है उसके लिए संयमाचरण सम्भव नहीं है और असंयमी श्रमण कैसे हो सकता है ?

ए हि आगमेण सिज्भदि सद्दहरणं जदि ए अत्थि अत्थेसु ।

सद्दहमाणो अत्थे असंजदो वा ए रिणव्वादि ॥ 3.37 ॥

—यदि तत्त्वार्थ में श्रद्धा नहीं तो आगमज्ञानमात्र से सिद्धि सम्भव नहीं और मात्र श्रद्धा से असंयमी को निर्वाण नहीं मिल सकता।

परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादियेसु जस्स पुणो ।

विज्जदि जदि सो सिद्धि ए लहदि सव्वागमधरोवि ॥ 3.39 ॥

—जिसे देहादि में अणुमात्र भी आसक्ति है वह समस्त आगमों का पारगामी होने पर भी सिद्धि-लाम नहीं कर सकता।

सच्चे श्रमण की व्याख्या में आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—

पंचसमिदो तिगुत्तो पंचेदियसंबुडो जिदकसाओ ।

दंसणणाणसमग्गो समणो सो संजदो भणिदो ॥ 3.40 ॥

—जो पाँच समितियों, तीन गुप्तियों से सुरक्षित है, जिसकी पंचेन्द्रियाँ नियंत्रित हैं, जिसने कषायों को जीत लिया है, जो दर्शन (श्रद्धा), ज्ञान से सम्पन्न है वह संयमी श्रमण कहा जाता है ।

समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुबखोपसंसर्गिदसमो ।

समलोदट्ठकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ॥ 3.41 ॥

—सच्चा श्रमण शत्रु-मित्र, सुख-दुःख, निन्दा-प्रशंसा, मिट्टी-कंचन और जीवन-मरण में समबुद्धिवाला होता है ।

दंसणणाणचरित्तसु तीसु जगवं समुट्ठदो जो द् ।

एयग्गदोत्ति मदो सामण्णं तस्स परिपुण्णं ॥ 3.42 ॥

—दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य में जो एक साथ प्रयत्नशील है और एकाग्रतायुक्त है उसकी श्रमणता ही परिपूर्ण है ।

आचार्य कुन्दकुन्द बन्धन और मोक्ष के विषय में कहते हैं—जो परपदार्थों से मोह, राग या द्वेष करता है वह विविध कर्मों का बन्धन करता है ।

अत्थेसु जो ण मुज्झदि ण हि रज्जदि णेव दोसमुपयादि ।

समणो जदि सो णियदं खवेदि कम्माणि विविधाणि ॥ 3.44 ॥

—परपदार्थों में जो न मोह करता है, न राग करता है और न द्वेष करता है—वह श्रमण निश्चय ही विविध कर्मों का क्षय करता है ।

बालो वा बुड्ढो वा समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा ।

चरियं चरउ सजोगं मूलच्छेदं जघा ण हवदि ॥ 3.30 ॥

—बालक हो, वृद्ध हो, थका हो या रोगग्रस्त हो तो भी श्रमण अपनी शक्ति के अनुरूप ऐसा आचरण करे जिससे मूल संयम का छेद न हो ।

आहारे च विहारे देसं कालं समं खमं उर्वाधि ।

जाणित्ता ते समणो वट्टदि जदि अप्पलेवी सो ॥ 3.31 ॥

—आहार और विहार के विषय में श्रमण यदि देश, काल, श्रम, शक्ति और अवस्था का विचार करके आचरण करे तो उसे कम-से-कम बन्धन होता है ।

अहिंसा

अहिंसा के विषय में आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि बड़ी सूक्ष्म है । सोने-बैठने और चलने-फिरने आदि में मुनि की जो सावधानता रहित प्रवृत्ति है वही हिंसा है । क्योंकि—

मरदु व जिवदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा ।

पयदस्स णत्थि बंधो हिंसाभेत्तेण समिदीसु ॥ 3.17 ॥

—जीव मरे या न मरे फिर भी असावधानी का अचरण करनेवाले को निश्चय ही हिंसा का पाप लगता है परन्तु जो साधक अप्रमादी है, उससे यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करने पर भी अग्र जीव का बन्ध हो जाय तो उसे उस हिंसा का पाप नहीं लगता ।

अयदाचारो समणो छस्सुवि कायेसु बंधगोत्ति मढो ।

चरदि जदं जदि णिच्चं कमलं णिव जले णिरुवलेवो ॥ 3.18 ॥

—जो श्रमण अयत्नाचारपूर्वक असावधानी के साथ प्रवृत्ति करता है उसके द्वारा एक भी जीव के न मरने पर भी उसे छहों जीव-वर्गों की हिंसा का पाप लगता है । यदि वह सावधानी (यत्न) पूर्वक प्रवृत्ति करता है तो उसके द्वारा जीव हिंसा हो जाने पर भी वह जल में कमल की भांति निर्लेप रहता है ।

परिग्रहत्याग

आचार्य कुन्दकुन्द ने श्रमण के लिए लेशमात्र भी परिग्रह रखने का निषेध किया है । अपनी काय-चेष्टा द्वारा जीवहिंसा होने पर बन्ध हो न हो, आवश्यक नहीं परन्तु परिग्रह से निश्चय ही बन्ध होता है । इसीलिए श्रमण सर्वत्यागी होता है । जब तक निरपेक्ष भाव से सर्वपरिग्रह का त्याग नहीं किया जाता उसकी चित्त-शुद्धि नहीं हो सकती और जब तक चित्त अशुद्ध है तब तक कर्मों का क्षय कैसे ? परिग्रही के आसक्ति और असंयम होता है । पर-पदार्थ में आसक्ति आत्म-साधना में बाधक है (3.19.21) । श्रमण को केवल देह का ही परिग्रह है लेकिन देह में भी उन्हें ममता नहीं है । अपनी शक्ति के अनुसार श्रमण तप में ही देह का प्रयोग करते हैं ।

सेवा-भक्ति

आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार में श्रमण और श्रावक के लिए सेवा-भक्ति की भी चर्चा की है । उनके अनुसार सेवा-भक्ति शुभभाव का कारण है परन्तु बन्ध के अधीन है । अर्हन्त आदि की भक्ति और शास्त्रज्ञ आचार्य आदि के प्रति वात्सल्य भाव शुभ हैं । सन्त-पुरुषों को वन्दन-नमस्कार, उनका विनय, आदर, अनुसरण, दर्शन, ज्ञान का उपदेश, जिनेन्द्र अर्चना, अन्य जीवों को किसी प्रकार की बाधा पहुँचाये बिना चतुर्विध श्रमण संघ की निष्काम सेवा करना श्रमण और श्रावक के लिए शुभभावयुक्त कल्याणकर है । अपने आत्म-स्वरूप को सुरक्षित रखते हुए कर्म-बन्धनों को काटते हुए, सावधानीपूर्वक सेवाभक्ति परम सौख्य का कारण है । वैसे शुभभाव का राग भी पात्रविशेष में विपरीत फल देता है । समान बीज भी भूमि की भिन्नता से भिन्न रूप में परिणत होता है । जिन्हें परमार्थ का ज्ञान नहीं है और जिनमें विषय-कषाय की अधिकता है ऐसे लोगों को दान, सेवा के फल-स्वरूप हलके मनुष्य भव की प्राप्ति होती है (3.45.50) ।

विनय

विनय के प्रसंग में आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है कि शास्त्र-ज्ञान में निपुण संयम, तप और ज्ञान से परिपूर्ण श्रमणों का दूसरे श्रमण खड़े होकर आदर करें, उनकी उपासना करें और नमन करें। अन्यथा चारित्र्य नष्ट होता है। अपने से अधिक गुणवान से विनय की आकांक्षा रखना अनन्त संसार का कारण है।

वही पुरुष मोक्षरूप सुमार्ग का भागी हो सकता है जो पापकर्मों में उपरत हो गया है, सब धर्मों में समभाव रखता है और जो गुण-समूह का सेवन करता है। अशुद्ध भावों से हट कर शुद्ध या शुभ भाव में प्रवृत्त पुरुष लोक को तार सकते हैं, उनकी सेवा करने-वाला अवश्य ही उत्तम स्थान का भागी है (3.60)।

सुद्धस्स य सामण्णं भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं ।

सुद्धस्स य णिव्वाणं सोच्चिय सिद्धो णमो तस्स ॥ 3.74 ॥

ये हैं प्रवचनसार ग्रन्थ की उपयोगी शिक्षाएँ।



आचार्य कुन्दकुन्द एवं बोधपाहुड

—पं. अनूपचन्द्र न्यायतीर्थ



दिगम्बर जैन परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द का नाम सर्वोपरि आता है। इन्हें दिगम्बर आम्नाय में मूलसंघ के संस्थापक कहा जाता है। भगवान् महावीर के प्रमुख गणधर इन्द्रभूति गौतम के पश्चात् अन्य केवली श्रुतकेवली हुए किन्तु मंगलाचरण के रूप में महावीर एवं गौतम के साथ केवल कुन्दकुन्दाचार्य का नाम ही आता है इससे इनकी महत्ता का पता चलता है।

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी,

मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ।

उक्त मंगलाचरण का श्लोक कितना प्राचीन है यह तो अलग खोज का विषय है किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि कुन्दकुन्दाचार्य की मान्यता काफी प्राचीन है। वे प्रथम शती के आचार्य थे तथा संवत् 4 में पाट बैठनेवाले आचार्य भद्रबाहु के शिष्य थे। आचार्य कुन्दकुन्द संवत् 49 में पट्टस्थ हुए और 51 वर्ष 10 माह तक इस पद पर प्रतिष्ठित रहे। आचार्य कुन्दकुन्द ने 11 वर्ष की आयु में दीक्षा ली तथा 33 वर्ष तक साधु पद पर रहने के पश्चात् आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। उनकी आयु 95 वर्ष 10 मास 15 दिन की थी जैसाकि भट्टारक पट्टावलियों में दर्शाया गया है। इस तरह हम कह सकते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द का जन्म वि. सं. 5 में हुआ होगा। यह वर्ष आचार्य कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दि वर्ष के रूप में मनाया जा रहा है, यह एक महत्त्वपूर्ण बात है।

जैसाकि ऊपर कहा गया है आचार्य कुन्दकुन्द दो हजार वर्ष पूर्व हुए, उनने जैन-जगत् में अघ्यात्म की ज्योति जगायी। उनने अपने संयम एवं तपस्यामय जीवन में आत्मतत्त्व की खोज की और बतलाया कि सच्चा सुख क्या है और वह कैसे प्राप्त हो सकता है। उनने निम्नग्रंथों में अपने ज्ञानघट को उंडेला और जगत् को बताया कि जब तक हम अपने आपको नहीं पहिचानेंगे सुखी नहीं हो सकते। अपने आपको जानना-पहिचानना ही एक बहुत बड़ी कला है।

1. समयसार, 2. प्रवचनसार, 3. नियमसार, 4. रयणसार, 5. पंचास्तिकाय, 6. अष्टपाहुड और 7. द्वादशानुप्रेक्षा।

उक्त ग्रंथ जैनवाङ्मय के प्राण हैं। इनके आधार पर जैनदर्शन का महल खड़ा है। कहते हैं—आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने जीवनकाल में ऐसी ऋद्धि प्राप्त करली थी जिसके कारण वे सदेह विदेह क्षेत्र में सीमंघर स्वामी की समवसरण सभा में गये और साक्षात् तीर्थंकर से ज्ञान प्राप्त कर लौटे, इसी ज्ञान को उनने उक्त ग्रंथों के माध्यम से जनता तक पहुँचाया। उक्त ग्रंथ प्राकृत भाषा में सूत्ररूप में रचे गये जिनपर अमृतचन्द्राचार्य तथा अन्य आचार्यों ने बृहद् टीकाएँ लिखीं। आचार्य कुन्दकुन्द अपने समय के एक अद्वितीय विद्वान् थे जिनने अघ्यात्म जैसे शुष्क विषय पर गहन अध्ययन एवं मनन किया और वह मार्ग प्रशस्त किया जिसे मोक्षमार्ग कहा जाता है।

समाज ने भी उनको भुलाया नहीं अपितु सर्वोच्च स्थान दिया तथा आजतक अक्षुण्ण रूप से उनकी आम्नाय एवं परम्परा को बराबर कायम रखा। मूर्तिपाद लेखों, शिलापट्टों तथा ग्रंथ प्रशस्तियों में अब तक मूलसंघ की परम्परा का उल्लेख किया जाता है।

आचार्य कुन्दकुन्द के पांच नाम थे जैसाकि षट्पाहुड के टीकाकार श्रुतसागर सूरि ने प्रत्येक पाहुड के अंत में उल्लेख किया है—श्री पद्मन्दि, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य एलाचार्य और गृद्धपिच्छाचार्य। ईडर भंडार की पट्टावली में भी ये ही नाम दिये गये हैं—

आचार्यकुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामुनिः।

एलाचार्यो गृद्धपृच्छः पद्मन्दीति तन्नुतिः॥

आचार्य कुन्दकुन्द की जो सात रचनाएँ उपलब्ध हैं उनमें अष्टपाहुड भी एक है। अष्टपाहुड में आठ पाहुड हैं—दर्शनपाहुड, सूत्रपाहुड, चारित्रपाहुड, बोधपाहुड, भावपाहुड, मोक्षपाहुड, लिंगपाहुड और शीलपाहुड। इनमें से श्रुतसागरसूरि ने लिंगपाहुड और शीलपाहुड को छोड़कर शेष षट्पाहुड की टीका की है। जयपुर के प्रसिद्ध विद्वान् पं. जयचंदजी छाबड़ा ने अष्टपाहुड की टीका संवत् 1867 भादवा सुदी 13 को समाप्त की है।

अष्टपाहुड में सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र पर ही विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है। रत्नत्रय ही मोक्ष का मार्ग है। सम्पूर्ण ग्रंथ में इसी का विशद विवेचन किया गया है। प्रस्तुत लेख में बोधपाहुड के विषय पर विशेष प्रकाश डाला जा रहा है।

बोधपाहुड में आचार्य ने मंगलाचरण के पश्चात् विषय-निरूपण की प्रतिज्ञा करते हुए कहा है कि छहकाय के जीवों को मुख देनेवाले सर्वज्ञकथित धर्म का निरूपण करूंगा जिससे धर्ममार्ग में सावधान होकर कुमार्ग को छोड़ा जा सके। बोधपाहुड को आचार्य ने 11 भागों में बांटा है—आयतन, चैत्यगृह, जिनप्रतिमा, दर्शन, जिनबिंब, जिनमुद्रा, ज्ञान, देव, तीर्थकर, अरहंत और विशुद्ध प्रव्रज्या।

आयतन—पांच महाव्रत का धारी ऋषीश्वर, संकल्प-विकल्प से दूर शुद्धात्मा एवं सर्वज्ञ ही आयतन है। भेषधारी, पाखंडी, विषय-कषाय में आसक्त परिग्रहधारी धर्म के आयतन नहीं हैं।

चैत्यगृह—जो महाव्रती मुनि स्वयं ज्ञानमयी होकर ज्ञानस्वरूप एवं चेतनास्वरूप आत्मा को जानता है वही चैत्यगृह है। आपा-पर के भेद को जाननेवाला संयमी मुनि चैत्यगृह है, अन्य पाषाण आदि का मंदिर चैत्यगृह नहीं है।

जिनप्रतिमा—निर्ग्रंथ वीतरागमुद्रास्वरूप रत्नत्रयधारी संयमी मुनि की चलती-फिरती देह ही जिनप्रतिमा है। धातु-पाषाण की दिग्म्बरस्वरूप प्रतिमा तो व्यवहार प्रतिमा है।

दर्शन—अष्टांग सम्यग्दर्शन, अष्टविध सम्यग्ज्ञान एवं त्रयोदश प्रकार सम्यग्चारित्र के धारी बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह से रहित साक्षात् ज्ञानस्वरूप मुनि ही दर्शन है। यह बाह्यदर्शन है, अंतरंगदर्शन तो सम्यक्त्व है। वैसे दर्शन का अर्थ मत या मान्यता भी है। जैनदर्शन में मुनि, श्रावक, आर्यिका का भेष बाह्यदर्शन एवं इन की श्रद्धा को अंतरंग दर्शन कहा है।

जिनबिंब—अर्हत् सर्वज्ञ का प्रतिबिम्बस्वरूप, दीक्षा-शिक्षा का दाता, वीतरागी एवं संयमी आचार्य परमेष्ठी ही दर्शन-ज्ञानमयी चेतना भावसहित जिनबिंब है अन्य प्रतिबिंब तो गौण हैं।

जिनमुद्रा—बनारसीदासजी ने “जिनमुद्रा जिन सारखी” जिनमुद्रा को जिनेश्वर समान ही कहा है। वैसे दृढ़ संयमी, इन्द्रियों के वशीभूत होकर विषय-कषाय में प्रवृत्ति नहीं करनेवाले ज्ञानानंदस्वभावी मुनि को ही जिनमुद्रा कहा है।

ज्ञान—अपने स्वरूप को जानलेना ज्ञान है। जो संयम ग्रहण कर ध्यान, तप आदि तो करता है किंतु जब तक आत्मरूप को नहीं जाने तो ये सब वृथा हैं। अपने आपको जानने से ही लक्ष्य की पूर्ति होती है। जैसे—जब तक बाण नहीं होगा लक्ष्य-वेध नहीं किया जा सकता वैसे ही बिना ज्ञान के मोक्षमार्ग नहीं पाया जा सकता।

देव—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के कारणस्वरूप ज्ञान को देनेवाला देव कहा जाता है। जिसने चारों पुरुषार्थ प्राप्त करने हेतु दीक्षा धारण की है वह देव है। दशलक्षरूप

धर्म, सोलहकारण भावनारूप धर्म को धारण करने से तीर्थकर-पद तथा धन और संसार के भोगों की प्राप्ति होती है। जो परमपद में दीक्षा ले संपूर्ण मोहरहित होकर आत्म-स्वरूप में स्थिर हो मोक्ष को प्राप्त करता है वह जिन ही देव है।

तीर्थ—जिसके द्वारा संसार-सागर से तिरा जावे वह तीर्थ है। सागर, नदी, पर्वत आदि तीर्थ नहीं है क्योंकि ये तो संसार-समुद्र में भ्रमण करानेवाले हैं। सागर, नदी आदि से बाह्य मल तो धुल जाता है किंतु अंतर्मल नहीं। जिससे ज्ञानावरणीय कर्ममल दूर हों, अज्ञान, राग, द्वेष आदि कषायें धुलें वह तीर्थ है।

अरहंत—सामान्यरूप से केवलज्ञानी को अरहंत कहा जाता है तथा विशेषरूप से तीर्थकर को। अनंत चतुष्टय का धारक, चार घातिया कर्मों का नाशक, अठारह दोषों से रहित जिसने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया वही अरहंत है। चौंतीस अतिशय, आठ प्रातिहार्य एवं अनंत चतुष्टय इन छियालिस गुणों का धारक अरहंत होता है।

प्रव्रज्या—दीक्षा को ही प्रव्रज्या कहते हैं। दीक्षा लिया हुआ मुनि सूने घर में, वृक्ष के मूल कोटर में, उद्यान, वन अथवा वसतिका में निवास करता है। उसे शहरों में निवास करना नहीं कहा है। वह मंदिर, तीर्थस्थान आदि में रह कर आत्मध्यान करे तथा अन्य को दीक्षा आदि देवे। जैनेश्वरी दीक्षा में प्रव्रजित साधु के परिग्रह एवं मोह नहीं होने से समता भाव प्रकट होता है, वह शत्रु-मित्र, महल-मसाण, प्रशंसा-निन्दा, लाभ-अलाभ में एकसा रहता है। जैन मुनि के छोटे-बड़े, धनिक-दीन का कोई विचार नहीं होता, जहाँ शुद्ध आहार मिले वहीं ले लेता है। वह विषयों की आशा से रहित, निरारंभी और निष्परिग्रही होता है। उसकी नम्रता बालकवत् निर्विकार होती है, वह अपने शरीर का संस्कार नहीं करता। दीक्षा-धारण के पश्चात् उसके पास तिल तुष-मात्र भी परिग्रह नहीं रहता, सदा ज्ञान-तप में लीन रहकर विकथाओं से दूर रहता है। वह आत्म-कल्याण में सावधान रहता है, पर से उसको कोई ममत्व नहीं। वह अपनी मर्यादा का पूर्णरूप से पालन करता हुआ स्वाध्याय, तप और संयम में स्थिर रहता है। वास्तव में मुनिव्रत का पालन असिधार पर चलने के समान ही है और यही वास्तविक प्रव्रज्या है।

इस तरह हम देखते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द ने बोध-पाहुड में मुनियों के शिथिला-चार पर गहरी चोट की है। इससे यह भी चरितार्थ होता है कि शिथिलाचार अष्टाचार की तरह कोई नयी चीज नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द के समय में भी मुनियों के आचार में शिथिलता अवश्य थी जो कुन्दकुन्द को नहीं सुहाई। कुन्दकुन्द ने उसके खिलाफ आवाज उठाई और समुचित मार्ग प्रशस्त किया। उनका कहना है कि परिग्रही एवं मोहवान मुनि के लिए नरक एवं निगोद का रास्ता खुला है।

संपूर्ण बोधपाहुड के उक्त ग्यारह भागों में आचार्यप्रवर ने धर्म एवं दिगम्बर मुनियों के स्वरूप को स्पष्ट किया है।



अष्टपाहुड का भाषात्मक अध्ययन

—डॉ० उदयचंद जैन



भाषा-शास्त्र का अध्ययन करने से आर्यभाषा के विकासक्रम में कई महत्वपूर्ण भाषाएँ हमारे सामने आती हैं। परन्तु जब हमारी दृष्टि आर्ष-वचन की ओर जाती है तब तीन प्रमुख भाषाएँ अपने वैशिष्ट्य का प्रदर्शन करती हैं—1. पाली, 2. शौरसेनी और 3. अर्धमागधी। ये तीनों ही आर्ष हैं, जिन्हें सर्वप्रथम बुद्ध और महावीर ने अपने धार्मिक विचारों के रूप में स्वीकार किया था। उन्हीं बुद्ध और महावीर के वचनों को भाषा-वैज्ञानिकों एवं व्याकरण-विदों ने आर्ष-वचन कहा तथा जो बाद में क्षेत्रीय आधार पर पाली, शौरसेनी और अर्धमागधी के रूप को प्राप्त हुए। ये तीनों ही भाषाएँ प्राचीन संस्कृति के दीप-स्तम्भ हैं जिनका प्रकाश अद्यतन भी चारों ओर व्याप्त है। इन भाषाओं की साहित्यिक निधि मानव-मात्र के प्रति ही नहीं, अपितु प्राणिमात्र के प्रति आत्मीयता का सागर लाकर खड़ा कर देती है। जिसकी निधि अनंत हो वह कभी भी क्षय नहीं हो सकती है। वो भी आगम रूप में, मानव-मात्र के कल्याण के रूप में एवं संस्कृति के धरोहर के रूप में है।

प्रत्येक भाषा का अपना-अपना महत्व होता है। जो अपने महत्व के फल-स्वरूप भाषा के इतिहास को गति प्रदान करती रहती है। उन्हीं में आर्ष-वचन के रूप में शौरसेनी प्राकृत भाषा है। जिसका प्राचीन समय से लेकर आज भी आधुनिक भाषाओं को महत्वपूर्ण योगदान है। इस भाषा का अपना विपुल साहित्य है तथा भाषात्मक दृष्टि से भी इसका महत्व है क्योंकि भाषा-वैज्ञानिकों ने प्राकृत भाषाओं का अध्ययन करते हुए विभिन्न

प्रामाणिक आधारों पर इसे प्राचीन माना है। सर्वप्रथम भाषाविदों ने इस विषय में खोज की तो उन्हें अशोक के अभिलेखों से शौरसेनी भाषा सम्बन्धी जानकारी प्राप्त हुई। काठियावाड़ के गिरनार अभिलेख में भी इसके जो रूप देखने को मिले हैं उनसे भी इसकी प्राचीनता का बोध हो जाता है। यहाँ भाषा के विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि इस भाषा का प्रयोग सर्व-प्रथम आगम साहित्य के रूप में भी आया। इस भाषा का यहीं विराम नहीं हो गया, अपितु यह भाषा अबाध गति से चलती रही। संस्कृत नाटकों में तो प्रायः राजा, मंत्री, राज-पुरोहित आदि को छोड़कर शेष सभी रानी, रानी की सहेलियाँ, अन्तःपुर की दास-दासियाँ आदि से शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग करवाया गया है, इसका प्रमुख कारण यह था कि संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत सरल थी, व्यवहार की भाषा थी, जन-साधारण में प्रचलित थी। प्राकृतों को जन-साधारण अच्छी तरह बोल सकते थे, समझ सकते थे। इसलिए संस्कृत नाटकों में रंग-मंचीय दृष्टि एवं लोक-रुचि को ध्यान में रखकर प्राकृतों का प्रयोग पात्रों से कराया गया।

शौरसेनी के प्राचीन साहित्य पर जब विचार करते हैं तो शौरसेनी के अति प्राचीन ग्रन्थ षट्खंडागम का विशालकाय रूप सामने आ जाता है। जिसमें सिद्धान्त निरूपण के साथ गणित-ज्योतिष आदि विषयों का ज्ञान होता है। अध्यात्म-चिंतन की धारा के प्रति विचार करने पर हमारी दृष्टि आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की ओर चली जाती है। आचार्य कुन्दकुन्द के सभी ग्रन्थों पर सैद्धांतिक एवं दार्शनिक दृष्टि से तो बहुत कुछ लिखा जा चुका है, पर उनके ग्रन्थों की समीक्षा के साथ भाषात्मक परिचय या अध्ययन अभी तक नहीं हुआ है। अतः उनके ग्रन्थों का भाषात्मक अध्ययन भी आवश्यक हो गया है। यहाँ कुन्दकुन्द के सभी ग्रन्थों की भाषा का अध्ययन प्रस्तुत न कर केवल उनके अष्टपाहुड की भाषा का अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित सभी ग्रन्थ शौरसेनी प्राकृत में हैं, पर षट्खंडागम की प्राचीन शौरसेनी से कुछ भिन्नता पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार आदि ग्रन्थों में है। इन ग्रन्थों की भाषा से कुछ भिन्नता अष्ट-पाहुड ग्रन्थों में है। अष्टपाहुड ग्रन्थों में जो प्राकृत है वह अपभ्रंश मिश्रित प्राकृत है। अपभ्रंश भरत मुनि या वैयाकरणों की दृष्टि से उकार-बहुला कही जाती है। अपभ्रंश उकार-बहुल है, यह बात तो स्पष्ट है, पर जब कुन्दकुन्द के अष्टपाहुड ग्रन्थों को देखते हैं तब यह बात भी सामने आती है कि विभक्ति-लोप की परंपरा भी प्राचीन है। कुन्दकुन्द स्वयंभू से पूर्व के कवि हैं। स्वयंभू ज्ञात कवियों में अपभ्रंश भाषा के माध्यम से लिखनेवाले आदि कवि हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के कई पाहुड ग्रन्थ हैं जिनमें से अष्टपाहुड ग्रन्थों का अध्यात्म विषयनिरूपण की दृष्टि से भी महत्त्व है। यहाँ अष्टपाहुड ग्रन्थों की भाषा का अध्ययन इसलिए प्रस्तुत करना अनिवार्य हो गया कि कुन्दकुन्द के समय में अपभ्रंश बोल-चाल के अतिरिक्त ग्रन्थों की भाषा बन चुकी होगी, तभी तो कुन्दकुन्द के अष्टपाहुड ग्रन्थों में प्राकृत भाषा के साथ अपभ्रंश का प्रयोग किया है जिसको विविध भाषात्मक पक्षों के आधार पर स्पष्ट रूप से जान सकते हैं—

विभक्तिलोप की प्रवृत्ति

प्राकृत भाषा में विभक्तिलोप की प्रवृत्ति नहीं है, जबकि अष्टपाहुड ग्रन्थों में यह प्रवृत्ति प्रायः देखने को मिल जाती है जिससे यह बात सामने आती है कि जो प्रवृत्ति अपभ्रंश में है वही प्रवृत्ति कुन्दकुन्द के अष्टपाहुड ग्रन्थों में है। अपभ्रंश में ('स्यम्-जस्-शसां लुक् 4/344, षष्ठ्याः 4/345) प्रथमा/द्वितीया/चतुर्थी/षष्ठी एकवचन एवं बहुवचन में प्रत्यय लोप होता है। वही यहाँ निर्दिष्ट है—

प्रथमा एकवचन—

पढम मोक्खस्स । (दं.पा. 21)

सिवमग्गे जो भव्वो । (सु. पा. 2)

मय राय दोस मोहो । (बो. पा. 5)

मिच्छादिट्ठि जो सो संसारे संसरेइ सुहरहिओ । (मो. पा. 95)

प्रथमा बहुवचन—

तेसि पि णत्थि बोहि । (दं. पा. 13)

छ्ह दव्व । (दं. पा. 19)

जे वावीस-परीसह सहंति । (सू. पा. 12)

द्वितीया एकवचन—

सेयासेयविदण्ह उदधुददुस्सील सीलवंतो वि । (दं. पा. 16, सू. पा. 25, चा.पा. 2, 18)

ण मुयइ पयडि । (भा. पा. 137)

परमप्पय भायंतो । (मो. पा. 48)

द्वितीया बहुवचन—

तस्स य दोस कहंता । (दं. पा. 9)

लहु चउगइ चइऊणं । (चा. पा. 45)

चतुर्थी/षष्ठी एकवचन—

जह मूलम्मि विण्णट्ठे दुमस्स परिवार णत्थि पखड्ढी । (दं. पा. 10)

पावोपहदि भावो सेवदि य अंबंभु लिगिरूवेण । (लि. पा. 7)

चतुर्थी/षष्ठी बहुवचन—

सम्मत्तादो णाणं णाणादो सव्वभाव उवलद्धी । (दं. पा. 15)

छ्छिददि तरुणण बहुसो । (लि. पा. 16)

चोराण मिच्छवाण य जुद्ध विवादे च तिक्कम्महेहि । (लि. पा. 10)

दंसण वय सामाइय पोसह सच्चित्त रायमत्ते य ।

बंभारंभपरिग्गह अणुमण उट्ठि देसविरदो य ॥ (चा. पा. 22)

सप्तमी में विभक्ति लोप—

गिरिगुह गिरि-सिहरे । (बो. पा. 41)

परिहर घम्मे अहिंसाए । (चा. पा. 15)

दीर्घ एवं ह्रस्व — (स्यादौ दीर्घ-ह्रस्वौ 4/330) अपभ्रंश भाषा में प्रथमा आदि विभक्तियों के प्रयोग होने पर दीर्घ का ह्रस्व होता है, दीर्घ का दीर्घ भी रहता है, ह्रस्व का दीर्घ भी होता है तथा ह्रस्व का ह्रस्व भी रहता है ।

प्राकृत भाषा में यह प्रवृत्ति नहीं पाई जाती है । कुन्दकुन्दाचार्य के पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार, समयसार आदि ग्रन्थों में ऐसी प्रवृत्ति नहीं पाई जाती है । परन्तु कुन्दकुन्दाचार्य के अष्टपाहुड ग्रन्थों में यह प्रवृत्ति अवश्य पाई जाती है ।

दीर्घ का ह्रस्व—तेसि वि णत्थि 'बोहि' (दं. पा. 13) मूलतः दीर्घ शब्द है, द्वितीया बहुवचन के 'शस्' का लोप होने पर (3/4) दीर्घ का दीर्घ रहना चाहिए था, परन्तु यहाँ (4/330) दीर्घ का ह्रस्व हो गया ।

- (1) पंच-महव्वयजुत्तो तिहि गुत्तिहि (सू. पा. 20) में नियमतः 'हि' (3/7) प्रत्यय लगने पर (3/12) दीर्घ होना चाहिए था, पर ह्रस्व ही रहा ।
- (2) अज्जिय वि एकवत्था में अज्जिया का 'अज्जिय' हुआ ।
- (3) विरओ भावण में भावणा का भावण ।
- (4) ठावरण पंचविहेहि (बो. पा. 30) ठावरण < ठावणा ।
- (5) सम्मत सण्णि आहारे । (बो. पा. 32) सण्णि < सण्णी ।
- (6) इरिया-भासा एसण जा सा (चा. पा. 37) एसण < एसणा ।
- (7) पसु-महिल-संढ-संगं (बो. पा. 56) महिल < महिला ।
- (8) कुरु दय परिहर मुणिवर (भा. पा. 132) दय < दया ।
- (9) दंसण-णाणावरणं मोहणियं (भा. पा. 148) मोहणियं < मोहणीय ।
- (10) मलरहिओ कलचत्तो (मो. पा. 6) कलचत्तो < कलाचत्तो ।

ह्रस्व का दीर्घ—बंधवाईमित्तेण, भा. पा. 43 ।

देऊ→देउ, भा. पा. 151 ।

सत्तूमित्ते य समा (बो. पा. 46) सत्तू→सत्तु ।

आगम—इसमें किसी नई ध्वनि स्वर या व्यञ्जन का आना आगम कहलाता है ।

जो जोडदि विव्वाहं (लि. पा. 9) । 'विव्वाहं' में व का आगम है ।

लोप—(1) परीत्त-संसारिओ जादो (भा. पा. 51) । परिवित्त→चाहिए, व का लोप है ।

(2) मइघणुहं जस्स थिरं सदगुण वाराणा सुअत्थि रयणत्तं । बो. पा. 22
रयणत्तयं के स्थान पर 'रयणत्तं', 'य' का लोप ।

(3) उदेसियं चरणं । (चा. पा. 44)
उवदेसियं के स्थान पर 'उदेसियं', 'व' का लोप ।

स्वरभक्ति—स्वर-भक्ति का प्रयोग भी बहुत हुआ है ।

(1) ममत्त→ममत्ति (भा. पा. 57) ।

(2) दव्वं→दवियं भव्वं→भवियं (भा. पा. 124) ।

(3) इक्कं→एक्कं→इक्कि (मो. पा. 22) ।

(4) अघा→आघा (मो. पा. 79) आघाकम्मम्मिखा ।

व्याकरणात्मक विश्लेषण—

इस अध्ययन में ऐसे प्रयोगों को रखा जा रहा है जो प्राकृत-व्याकरण के अतिरिक्त प्रयुक्त हुए हों । अष्टपाहुड ग्रंथ में ऐसे कई प्रयोग हैं जिनका उल्लेख शब्द, क्रिया, कृदंत एवं तद्धित रूप किया जा सकता है ।

शब्द —

(1) प्रथमा एकवचन में जहाँ प्राकृत में 'ओ' प्रत्यय का प्रयोग होता है वहाँ अपभ्रंश में प्रथमा/द्वितीया एकवचन में 'उ' प्रत्यय का भी प्रयोग होता है । अष्टपाहुड-ग्रन्थों में 'उ' का प्रयोग—

(1) भावेह भावसुद्धं फुडु (चा. पा. 45) (भा. पा. 31) फुडु→फुड→फुडो ।

(2) दीवायणु त्ति णामो (भा. पा. 50) ।

(3) भावहि अणुदिणु अतुलं (भा. पा. 92, 120) ।

(4) रुं भहि मणु जिणमग्गे । (भा. पा. 141) ।

(5) पावोपहदि भावो सेवदि य अवंभु लिंगिरूवेण (लिंग. पा. 7) ।

(6) पुंस्चलिधरि जसु मुंजइ । (लि. पा. 21) ।

(2) तृतीया बहुवचन में हि, हिं या हिं (भिसो हि हिं हिं 3/7) प्रत्यय होने पर शब्द के अन्त्य 'अ' को 'ए' (भिसभ्यस्सुपि 3/15) हो जाता है । परन्तु अष्टपाहुड ग्रन्थों में कुछ प्रयोग ऐसे भी हैं जिनमें 'हि' प्रत्यय होने पर शब्द के अन्त्य 'अ' को 'ए' नहीं हुआ है । यथा—

(i) चउतीसहि अइसएहि संजुत्तो । (दसरा पाहुड 29) । 'चउतीसहि' में 'अ' का 'ए' नहीं हुआ । यह प्रवृत्ति अपभ्रंश की है ।

- (ii) पयडहि जिणवरलिगं । (भा. पा. 70) ।
 (iii) णवविहबंभं पयडहि । भा. पा 98 ।
 (iv) णाणावरणादीहि य अट्टहि कम्महि बेढिओ य अहं । (भा. पा. 119) ।
 (v) उगगतवेणणाणी जं कम्मं खवदि भवहि बहुएहि । (मो. पा. 53) ।
 'इ' का प्रयोग—सम्मदंसणि पस्सइ । बो. मा. 40 ।

(3) पंचमी एकवचन/बहुवचन में 'दो' 'आदो' का प्रयोग—

- (i) कुणइ रागदो साहू । मो. पा. 54
 (ii) रदि हवेदि मोहादो । मो. पा. 69

(4) सप्तमी एकवचन में म्मि, म्हि, 'ए' के अतिरिक्त 'इ' प्रत्यय का प्रयोग—

- (i) मायावेल्लि असेसा मोहमहातरुम्मि आरुढा । मा. पा. 157
 (ii) अवरूवरूई संतो जिणमग्गि ए होइ सो समणो । लि. पा, 13
 (iii) पुंस्चलिघरि जसु भुंजइ । लि. पा. 21

सप्तमी में स्वतंत्र 'ए' का प्रयोग—

- (i) सो किं जिप्पइ इक्कि णरेण संगामए सुहडो । मो. पा. 22

सप्तमी बहुवचन में 'सु'—

- (i) सावयाण पुण पुणसु । मो. पा. 85
 (ii) पंच महव्वयजुत्तो पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु । मो. पा. 33
 सप्तमी बहुवचन में 'हि'—खवदि भवहि बहुएहि । मो. पा. 53

कारक प्रयोग—

(1) तृतीया के स्थान पर सप्तमी—

दुक्खे णज्जइ अप्पा—आत्मा दुःख से जाना जाता है (मो. पा. 65) । यहाँ 'णज्जइ' प्रेरणार्थक क्रिया है इसलिए तृतीया होना चाहिए था, पर सप्तमी का प्रयोग किया गया ।

(2) द्वितीया के योग में सप्तमी—

- (1) वायरण-छंद-वइसेसिय-ववहार-णाय-सत्थेसु । (शील. पा. 16)

(3) सप्तमी के स्थान पर तृतीया—

आवेहि कम्मगंधी जावद्धा विसय-राय-मोहेहि । शील. पा. 27 । (आत्मा में कर्मों की गाँठ) ।

(4) सप्तमी के योग में षष्ठी—

जह तारयाण चंदो मयराओ मयउलाण सब्बाराणं । भा. पा. 143

क्रिया प्रयोग—

- (1) वर्तमान काल में—‘जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ अविचलं ठाराणं । भा. पा. 164 पढइ, सुणइ के अतिरिक्त मणुयाराणं वड्ढए (मो. पा.) एवं मिच्छादिट्ठी हवे सो हु (मो. पा. 92) रूप भी मिलते हैं ।

सम्मूहदि रक्खेदि य अट्ठं भाएदि बहुयत्तेण (लिङ्ग पा. 5) में जो ‘भाएदि’ रूप है, उसे ‘भा’ धातु माना जाय तो ‘दि’ या ‘इ’ के पूर्व ‘ए’ का प्रयोग कम ही हुआ है ।

भाएइ सुद्धमप्पाराणं । (मो. पा. 20)

- (2) भविष्यत्काल—बोच्छं परमप्पाराणं । (मो. पा. 2)

(i) प्रत्यय से पूर्व एवं क्रिया के बाद ‘हि’ प्रत्यय होता है । परन्तु मात्र ‘ह’ का प्रयोग भी मिलता है ।

(ii) सिञ्जिभ्हहि जे वि भविया । (मो. पा. 88)

(iii) होहदि परिणिव्वाराणं । (शील पा. 11)

कि काहिदि बहिकम्मं कि काहिदि बहुविहं च खवराणं च । मो. पा. 99

आजा/विधि—‘इ’का प्रयोग (म. पु. ए.) भावि अपुव्वं महासत्त । भा.पा. 132, 96

(i) मध्यम पुरुष एकवचन में प्रत्यय लोप भी मिलते हैं ।

तं चित (भा. पा. 102) । तं कुण जिणंभत्तिपरं (भा. पा. 105)

‘सु’ प्रयोग—भंजसु इंदियसेरां भंजसु मणोमक्कडं पयत्तेण । (भा. पा. 90)

‘हि’ प्रयोग—तं गरहि गुरुसयासे । भा. पा. 106

दिक्खाकालाई य भावहि । भा. पा 110

कृदंत प्रयोग—

सम्बंधकृदंत के लिए विशेष रूप अपभ्रंश की तरह ‘एवि’ प्रत्यय का प्रयोग हुआ है । ऊण या दूण प्रत्ययों का प्रयोग तो है ही ।

पुण्णां चएवि तिविहेण (मो. पा. 28) ।

अप्पा भाएवि लहदि इंदत्तं (मो. पा. 107) ।

तिहि तिणिण धरवि णिच्चं (मो. पा. 44) ।

‘त्तु’ का प्रयोग—वंदित्तु ति जगवंदा (चा. पा. 1) ।

तद्धित प्रयोग—‘त्त’ एवं ‘त्तरा’ प्रत्ययों का प्रयोग हुआ है—

- (i) अप्पा भाएवि लहहि इदत्तं । मो. पा. 77
- (ii) लोयंतिय-देवत्तं तत्थ । मो. पा. 77
- (iii) बालत्त-पत्तेण । भा. पा. 41
- (iv) णगत्तरां अकज्जं । भा. पा. 55

देशीशब्द—साहंति जं महल्ला आयरियं जं महल्ल पुव्वेहि । चा. पा. 31

ढिल्लं—शिथिल-ढीला

दुरु—दुल्लियो (भ्रमण) । भा. 36

पुंस्चलुघरि । (लि. पा. 21)

जइ-फुल्लं गंधमयं । बो. पा. 14 । इच्छु-फुल्ल-समो (भा. पा. 71)

पसु-महिल—संढ-संगं (बो. पा. 56) ।

जेण भड्डियकम्मेण (मो. पा. 1), भड्डना ।

ते होंति लुल्लमूआ (दं. पा. 12) ।

कुछ अन्य प्रयोग—(1) ताम ण राज्जइ अप्पा विसएसु रारो पवट्टए जाम (मो. पा.) ।

इसमें जाम एवं ताम अपभ्रंश ही हैं ।

(2) मज्झं ण अह्यमेगागी । (मो. पा. 81)

अहकं→अहयं→मैं (अपभ्रंश रूप है) ।

(3) हंतूण दोसकम्मे हुउ । (बो. पा. 29) हुउ (अपभ्रंश रूप है) ।

(4) सद्द-वियारो हूओ । (बो. पा. 60)

इस प्रकार के अनुसंधान को प्रस्तुत करके मैं यह सोचता हूँ कि अष्टपाहुड ग्रन्थों का ही नहीं, अपितु कुन्दकुन्दाचार्य के सभी ग्रंथों का भाषात्मक अध्ययन होना आवश्यक है क्योंकि उनके जितने भी ग्रंथ हैं वे सभी पाहुड ही हैं । पर जिन्हें आज विद्वानों ने अष्ट-पाहुड की संज्ञा दी है, वे ही पाहुड के रूप में प्रचलित हो गये हैं । इन पाहुड ग्रन्थों की भाषा का मूल्यांकन करने से यह स्पष्ट आभास हो जाता है कि जब अपभ्रंश बोलचाल के रूप में प्रयुक्त होती रही होगी तब वह प्राकृत के अधिक नजदीक रही होगी । कुन्दकुन्दाचार्य ने प्राकृत के साथ जो अपभ्रंश शब्दों का प्रयोग किया है उससे यह पता चलता है कि अपभ्रंश काफी प्राचीन भाषा है ।



महावीर-पुरस्कार-1990

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी द्वारा संचालित जैनविद्या संस्थान श्रीमहावीरजी के 'महावीर पुरस्कार' के लिए जैन धर्म/दर्शन/इतिहास/साहित्य आदि से सम्बन्धित किसी भी विषय की पुस्तक/शोध-प्रबन्ध की चार प्रतियां 31-3-91 तक आमन्त्रित हैं।

1987 के पश्चात् प्रकाशित पुस्तक ही इसमें सम्मिलित हो सकती है। अप्रकाशित कृतियां भी प्रस्तुत की जा सकती हैं। अप्रकाशित कृतियों की तीन प्रतियां स्पष्ट टंकण/फोटोस्टेट की हुई तथा जिल्द बंधी होनी चाहिए।

नियमावली तथा आवेदन का प्रारूप प्राप्त करने के लिए दो रुपये का पोस्टल-आर्डर मन्त्री, दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी, जयपुर के नाम नीचे दिये गये पते पर भिजवावें।

संयोजक

जैनविद्या संस्थान समिति

दिगम्बर जैन नसियां भट्टारकजी

सवाई रामसिंह रोड, जयपुर-302004

महावीर-पुरस्कार

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी द्वारा संचालित जैन-विद्या संस्थान द्वारा जैन-साहित्य-सर्जकों को उल्लेखनीय सृजन-योगदान के लिए प्रतिवर्ष 5001/- पांच हजार एक रुपये का महावीर-पुरस्कार प्रदान किया जाता है। इसी क्रम में डॉ फूलचन्द जैन प्रेमी को उनकी कृति 'मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन' के लिए वर्ष 1988 का यह पुरस्कार प्रदान किया गया है।

संयोजक
जैनविद्या संस्थान

महावीर पुरस्कार

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र, श्रीमहावीरजी (राजस्थान) की प्रबन्धकारिणी कमेटी के निर्णयानुसार जैन साहित्य सृजन एवं लेखन को प्रोत्साहन देने के लिए रु. 5,001/- (पांच हजार एक) का पुरस्कार प्रतिवर्ष देने की योजना—

योजना के नियम—

1. जैन धर्म, दर्शन, इतिहास, संस्कृति सम्बन्धी किसी विषय पर किसी निश्चित अवधि में लिखी गई सृजनात्मक कृति पर 'महावीर पुरस्कार' दिया जायगा। अन्य संस्थाओं द्वारा पहले से पुरस्कृत कृति पर यह पुरस्कार नहीं दिया जायेगा।
2. पुरस्कार हेतु प्रकाशित/अप्रकाशित दोनों प्रकार की कृतियां प्रस्तुत की जा सकती हैं। यदि कृति प्रकाशित हो तो यह पुरस्कार की घोषणा की तिथि के 3 वर्ष पूर्व तक ही प्रकाशित होनी चाहिये।
3. पुरस्कार हेतु मूल्यांकन के लिए कृति की चार प्रतियां लेखक/प्रकाशक को संयोजक, जैनविद्या संस्थान समिति को प्रेषित करनी होगी। पुरस्कारार्थ प्राप्त प्रतियों पर स्वामित्व संस्थान का होगा।
4. अप्रकाशित कृति की प्रतियां स्पष्ट टंकण की हुई अथवा यदि हस्तलिखित हों तो वे स्पष्ट और सुवाच्य होनी चाहिये।
5. पुरस्कार के लिए प्रेषित कृतियों का मूल्यांकन विशिष्ट विद्वानों/निर्णायकों के द्वारा कराया जायगा, जिनका मनोनयन जैनविद्या संस्थान समिति द्वारा होगा। इन विद्वानों/निर्णायकों की सम्मति के आधार पर सर्वश्रेष्ठ कृति का चयन जैनविद्या संस्थान समिति द्वारा किया जायेगा।
6. सर्वश्रेष्ठ कृति पर लेखक को पांच हजार एक रुपये का 'महावीर पुरस्कार' प्रशस्तिपत्र के साथ प्रदान किया जायगा। एक से अधिक लेखक होने पर पुरस्कार की राशि उनमें समानरूप से वितरित कर दी जायेगी।
7. महावीर पुरस्कार के लिए चयनित अप्रकाशित कृति का प्रकाशन संस्थान के द्वारा कराया जा सकता है जिसके लिए आवश्यक शर्तें लेखक से तय की जायगी।
8. महावीर पुरस्कार के लिए घोषित अप्रकाशित कृति को लेखक द्वारा प्रकाशित करने/करवाने पर पुस्तक में पुरस्कार का आवश्यक उल्लेख सामार होना चाहिये।
9. यदि किसी वर्ष कोई भी कृति समिति द्वारा पुरस्कार योग्य नहीं पाई गई तो उस वर्ष का पुरस्कार निरस्त (रद्द) कर दिया जायेगा।
10. उपर्युक्त नियमों में आवश्यक परिवर्तन/परिवर्द्धन/संशोधन करने का पूर्ण अधिकार संस्थान/प्रबन्धकारिणी कमेटी को होगा।

संयोजक कार्यालय :

दिगम्बर जैन नसियां भट्टारकजी
सवाई रामसिंह रोड, जयपुर-302004

ज्ञानचन्द्र खिन्दूका

संयोजक
जैनविद्या संस्थान समिति, श्रीमहावीरजी

हमारे प्राप्य महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

1-3. राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की ग्रन्थ-सूची-तृतीय, चतुर्थ, पंचम भाग	मूल्य
सम्पादक-डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल एवं अनूपचन्द न्यायतीर्थ	350/-
4. जैन ग्रन्थ भण्डारसँ इन राजस्थान—लेखक-डॉ. कासलीवाल	50/-
5. महाकवि दौलतराम कासलीवाल : व्यक्तित्व एवं कृतित्व	
लेखक-डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल	20/-
6. राजस्थान के जैन सन्त : व्यक्तित्व एवं कृतित्व—लेखक-डॉ. कासलीवाल	20/-
7. जैन शोध और समीक्षा—लेखक-डॉ. प्रेमसागर जैन	20/-
8. जिणदत्तचरित—सम्पादक-डॉ. माताप्रसाद गुप्त एवं डॉ. कासलीवाल	12/-
9. प्रद्युम्नचरित—सम्पादक-पं. चैनसुखदास न्यायतीर्थ एवं डॉ. कासलीवाल	12/-
10. सर्वार्थसिद्धिसार—सम्पादक-पं. चैनसुखदास न्यायतीर्थ	10/-
11. चम्पाशतक—सम्पादक-डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल	6/-
12. वचनदूतम् (पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध)—पं. मूलचन्द शास्त्री	प्रत्येक 10/-
13. पं. चैनसुखदास न्यायतीर्थ स्मृति ग्रन्थ	50/-
14. बाहुबली (खण्डकाव्य) लेखक-पं. अनूपचन्द न्यायतीर्थ	10/-
15. योगानुशीलन—लेखक-कैलाशचन्द बाढ़दार	75/-
16. चूनड़िया—मुनि श्री विनयचन्द, अनु.-पं. भंवरलाल पोल्याका	1/-
17. आरांदा—कवि महानन्द, अनु.-डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री	5/-
18. रोमीसुर की जयमाल और पाण्डे की जयमाल	
मुनि कनककीर्ति एवं कवि नण्डु, अनु.-पं. भंवरलाल पोल्याका	2/-
19. समाधि—मुनि चरित्रसेन, अनु.-पं. भंवरलाल पोल्याका	4/-
20. बुद्धिरसायण ओणमचरितु—कवि नेमिप्रसाद, अनु.-पं. भंवरलाल पोल्याका	5/-
21. कातन्त्ररूपमाला—भावसेन त्रैविद्यदेव	12/-
22. बोधकथा मंजरी—श्री नेमीचन्द पटोरिया	12/-
23. पुराणसूक्तिकोष	15/-
24. वर्धमानचम्पू—पं. मूलचन्द शास्त्री	25/-
25. चेतना का रूपान्तरण—ब्र. कुमारी कौशल	15/-
26. आचार्य कुन्दकुन्द : द्रव्यविचार—डॉ. कमलचन्द सोगाणी	15/-
27. अपभ्रंश रचना सौरभ—डॉ. कमलचन्द सोगाणी	यन्त्रस्थ
28. मृत्यु जीवन का अन्त नहीं—डॉ. श्यामराव व्यास	5/-
29. आचार्य कुन्दकुन्द—पं. भंवरलाल पोल्याका	2/-
30. अतीत के पृष्ठों से—डॉ. राजाराम जैन	3/-
31. भगवान् महावीर और उनके सिद्धान्त—श्री रूपकिशोर गुप्ता	6/-